**जदपि जोषिता नहिं* अधिकारी। दासी मन क्रम बचन तुम्हारी॥ १॥**
**गूढ़ौ तत्त्व न साधु दुरावहिं। आरत अधिकारी जहँ पावहिं॥ २॥**
**अति आरति पूछौं सुरराया। रघुपति कथा कहहु करि दाया॥ ३॥**

शब्दार्थ—**जोषिता** (सं० योषित्)=स्त्री। **अधिकारी**=उपयुक्त पात्र, हकदार।

अर्थ—यद्यपि स्त्री अधिकारिणी नहीं है (तथापि मैं तो) मन-कर्म-वचनसे आपकी दासी हूँ॥ १॥ साधुलोग जहाँ आर्त अधिकारी पाते हैं वहाँ वे गूढ़ तत्त्वको भी नहीं छिपाते (कह देते हैं)॥ २॥ हे देवताओंके स्वामी! मैं अत्यन्त आर्त्तभावसे पूछ रही हूँ। मुझपर दया करके अब रघुनाथजीकी कथा कहिये॥ ३॥

टिप्पणी १ ***'जदपि जोषिता नहिं अधिकारी'*** इति। (क) दोहेमें श्रुतिसिद्धान्त कहनेकी प्रार्थना है। स्त्रीको वेद सुननेका अधिकार नहीं है। यथा—'**स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा।**' (भा० १। ४। २५)] (ख) ***'जोषिता नहिं अधिकारी'*** का भाव आगे दोहा १२० के ***'जदपि सहज जड़ नारि अयानी।'*** में श्रीपार्वतीजीने स्वयं स्पष्ट कर दिया है। अनधिकारीका ही अर्थ ***'सहज*** जड़ और ***अयानी'*** स्पष्ट किया गया है। दोनों जगह ***'जदपि'*** शब्द भी है। भाव यह है कि उनमें इतनी गम्भीर सूक्ष्मबुद्धि नहीं होती कि वे गम्भीर गहन विषय समझ सकें।]

नोट—१ वेदान्तभूषणजीका मत है कि 'यहाँ आया हुआ ***'जोषिता'*** शब्द संस्कृतभाषाके रूढ्यात्मक ***'योषित्'*** शब्दका अपभ्रंश न होकर '**जुषी प्रीतिसेवनयोः**' इस ***'जुष'*** धात्वात्मक शब्दसे बनाया हुआ है, जिसका भाव यह हुआ कि जो स्त्री विषयानुरागिणी होकर भगवत्-व्यतिरिक्त अन्यकी प्रीतिपूर्वक सेवा करे वही श्रुतिसिद्धान्तकी अधिकारिणी नहीं है। शास्त्रकारोंने शिवजीकी भी आवेशावतारोंमें गणना की है और श्रीमद्भागवत तथा मानसमें उनको परम भागवत कहा है। भगवद्भक्ता स्त्री श्रुतिसिद्धान्तित परमज्ञानकी अधिकारिणी है, इस बातको '**स्त्रियो वैश्यास्तथा शूद्रास्तेऽपि यान्ति परां गतिम्**' (गीता ९। ३२) से भगवान्‌ने स्वयं ही स्पष्ट कर दिया है। वाचक्नवी, गार्गी, मैत्रेयी, लोपामुद्रा, अदिति, यमी और आत्रेयी आदि अनेक विदुषी स्त्रियोंके नाम उपनिषदों और संहिताभागमें आये हैं, जिन्होंने अमुक-अमुक सूक्तोंके अर्थ समझकर महर्षियोंको पढ़ाये हैं।'

इस विषयमें व्याकरण-साहित्याचार्य पं० रूपनारायण मिश्रजीके विचार इस प्रकार हैं। 'जोषिता' '**जुष सेवायाम्**' इस सौत्रधातुसे, '**हसृरुहियुषिभ्य इति।**' उणादि सूत्र १। १०२।' इस सूत्रसे इति प्रत्यय करनेसे योषित् शब्द बनता है। भागुरिजीके मतसे हलन्त शब्दोंसे 'आप' प्रत्यय होता है। यथा—'**आपं चैव हलन्तानां यथा वाचा निशा दिशा।**' अर्थात् जैसे वाच्‌का वाचा, निश्‌का निशा और दिश्‌का दिशा, वैसे ही योषित्‌का योषिता होता है। अथवा, इसी धातुसे **स्वार्थे णिच्** प्रत्यय करके कर्ममें 'क्त' प्रत्यय होनेसे भी योषिता शब्द हो सकता है। यद्यपि अमरकोशमें '**योषित्**' ऐसा तकारान्त ही है तथापि अन्य कोशोंमें '**योषिता**' भी मिलता है। यथा—'**स्त्रीर्वधूर्योषिता रामा**' इति त्रिकाण्डशेषः।' हिन्दीमें 'य' का 'ज' प्रायः पढ़ा जाता है और गोस्वामीजीने 'य' के स्थानपर 'ज' का प्रयोग भी किया है, जैसे कि जथा, जोग, जग्य, जमन इत्यादि। वैसे ही यहाँ भी '**योषिता**' को '**जोषिता**' लिखा। संस्कृतमें यकारादि 'योषिता' शब्द ही सर्वत्र मिलता है, चवर्गादि '**जोषिता**' ऐसा पाठ कहीं देखनेमें नहीं आता। यदि मिले तो '**जुषी प्रीतिसेवनयोः**' इस धातुसे वह बन सकता है; परंतु उसका अर्थ वही होगा जो यकारादि योषिता शब्दका है; क्योंकि '**जुष्**' धातुका प्रयोग कुत्सित सेवामें नहीं मिलता। जैसे कि '**जोषयेत् सर्वकर्माणि**' (गीता ३। २६) इत्यादि वचनोंसे सिद्ध है।

वे० भू० जीका अर्थ माननेमें और भी आपत्तियाँ पड़ती हैं। ***'जदपि'*** शब्दका तात्पर्य इस अर्थमें सिद्ध नहीं होता। क्योंकि श्रीपार्वतीजी अपनी गणना '**जोषिता**' में कर रही हैं। श्रीमद्भागवत, गीता आदि

* अन— १७२१, १७६२, को० रा०, छ०। नहिं—१६६१, १७०४

और अन्यत्र मानसमें ही जो स्त्रियोंके सम्बन्धमें इस ढंगके वाक्य आये हैं वहाँपर भी स्त्रीवाचक शब्दोंके अर्थ इसी प्रकार भिन्न-भिन्न करने होंगे। अतः इस प्रसङ्गकी व्यवस्था इस प्रकार करनी ठीक होगी कि जैसे '**स्त्रीशूद्रद्विजबन्धूनां त्रयी न श्रुतिगोचरा।**' (भा० १। ४। २५) तथा भा० ११। १७। ३३; ११। ८। ७—१४ और गीता ९। ३२ में स्त्रियों और शूद्रोंको पापयोनि कहा गया है और इसीसे उनको श्रुतिका अधिकारी नहीं कहा गया, फिर भी भगवत्-सम्मुख होनेसे उनका अधिकारी होना भी कहा है, वैसे ही यहाँ सर्वसाधारण स्त्रीकी प्रकृति प्रवृत्ति-प्रधान अर्थात् रजोगुणी और तमोगुणी होनेसे अनधिकारी कहा है। अर्थात् स्त्रियोंमें प्रायः अनधिकारी ही होती हैं। ऋषिपत्नियाँ और ब्रह्मवादिनी आदि तो अपवादमात्र हैं। सिद्धान्त समूहका होता है।

प्र० स्वामी भी मेरे मतसे सहमत हैं। वे लिखते हैं कि पार्वतीजीकी भावना यह है कि स्त्रियोंको वेदादिमन्त्र श्रवणका अधिकार नहीं है, यह सत्य है, तथापि मैं *'दासी मन क्रम बचन तुम्हारी'* अर्थात् मैं सती, पतिव्रता हूँ, इससे मैं अनधिकारी नहीं हूँ, सामान्य स्त्रियोंको अधिकार नहीं है। गार्गी आदि नाम अपवादभूत हैं। हाँ, स्कन्दपुराण ब्राह्मखण्ड चातुर्मास्य माहात्म्यमें गालव मुनि और पैंजवन शूद्रकी कथासंवाद है। इसमें गालव मुनिने पैंजवन शूद्रको शालग्रामपूजा करनेकी आज्ञा दी। इस विषयमें गालवने कहा है कि असच्छूद्र और पातिव्रत्यविहीन स्त्रियोंको अधिकार नहीं है, सच्छूद्र और पतिव्रताको अधिकार है। यह सिद्धान्त यहाँ ध्वनित किया है। नानापुराणनिगमागमसम्मत ग्रन्थके वचनोंका विचार नानापुराणनिगमागम-सम्मतिसे ही ठीक होगा। (स्कन्दपुराणाङ्क देखिये) सच्छूद्र कौन है, पतिव्रता कौन है, इसका निश्चय गालव या शिवके समान महापुरुष ही कर सकते हैं।

टिप्पणी—२ (क) *'दासी मन क्रम बचन तुम्हारी'* का भाव कि मुझे केवल अपने सम्बन्धसे स्त्री-जाति होनेके कारण अधिकार नहीं है, पर आपके सम्बन्धसे मुझे अधिकार है। मैं आपकी दासी हूँ, पतिव्रता हूँ। आपकी दासी और पतिव्रता होनेसे मुझे सुननेका अधिकार है। पुनः *'तुम्हारी दासी'* का भाव कि आप ईश्वर हैं, ईश्वरके भक्त इसके अधिकारी हैं। *'सोइ सिव कागभुसुंडिहि दीन्हा। राम भगत अधिकारी चीन्हा॥'* (१। ३०) (ख) प्रथम चरणमें अनधिकारी होना कहकर दूसरे चरणमें अधिकारी होना कहती हैं। [(ग) मन-कर्म-वचनसे दासी होना कहकर अपनेको उत्तम पतिव्रता जनाया। यथा—*'एकइ धर्म एक ब्रत नेमा। काय बचन मन पतिपद प्रेमा॥'* (३। ५) उत्तम पतिव्रता सब धर्मोंकी अधिकारिणी होती है, तथा सहधर्मिणी होनेसे पतिके साथ उसे सब धर्मोंका अधिकार है। (वै०)]

वि० त्रि०—स्त्रियोंका वेदके सिद्धान्तोंमें अधिकार नहीं है। अर्थित्व तथा सामर्थ्य न होनेपर अधिकार नहीं होता। केवल लौकिक सामर्थ्य भी अधिकारका कारण नहीं होता। शास्त्रीय अर्थमें शास्त्रीय सामर्थ्यकी अपेक्षा होती है। अतः शास्त्रीय सामर्थ्य न होनेसे वेदमें स्त्रीका अधिकार नहीं है, पर भगवती कहती हैं कि मैं तो वेदरूप आपकी मनसा, वाचा, कर्मणा दासी हूँ, अर्थात् सदा आपके अर्धाङ्गमें निवास करनेवाली हूँ। औरोंको न हो, पर मुझे शास्त्रीय सामर्थ्य कैसे नहीं है?

टिप्पणी—३ *'गूढ़ौ तत्त्व न साधु दुरावहिं।……'* इति। [(क) गूढ़=गुप्त, गहन। अथवा, वेदोंमें जो रामतत्त्व गुप्त है, जो बिना अनुभवके नहीं समझ पड़ता। (वै०) **तत्त्व**=ब्रह्म, आत्मा और मायाके सम्बन्धकी बात जिससे मनुष्य मोक्षका अधिकारी हो जाता है। (ख) ☞ *'गूढ़'* इति। ब्रह्म दो उपाधियोंसे विभूषित है। उसके सगुण और निर्गुण दो रूप कहे जाते हैं। इसी प्रकार उसके चरित भी दो प्रकारके हैं—ऐश्वर्य और माधुर्य। सर्वेश्वरता, सर्वकर्तृत्व, सर्वज्ञता और सर्वव्यापकता आदिको ऐश्वर्य-चरित कहते हैं और मानवप्रकृतिसुलभ चरित या नरनाट्यको माधुर्य। निराकार और सर्वव्यापक परमात्मा किस तरह देशकाल-बद्ध हो सकता है, यह बात सहसा समझमें नहीं आती। बड़े-बड़े ज्ञानियोंको इस विषयमें मोह हो जाता है। यही इस चरितकी विशेषता भी है। इसीसे इस माधुर्य-चरितको 'गूढ़' वा गुप्त कहा है। यथा—*'श्रोता बक्ता ज्ञाननिधि कथा राम कै गूढ़।……'* (१। ३०), *'उमा राम गुन गूढ़……॥'* (३ मं०), *'चाहहु सुनै*

*रामगुन गूढ़ा……।'* (१। ४७), *'अस रघुपति लीला उरगारी। दनुज बिमोहनि जन सुखकारी॥'* (७। ७३) तथा यहाँ *'गूढ़उ तत्त्व न साधु दुरावहिं।'* नरनाट्यमें किस प्रकार परत्वका चमत्कार भरा हुआ है, यही उस चरितकी निगूढ़ता है।] (ग) 'गूढ़ तत्त्व भी नहीं छिपाते' कहनेका तात्पर्य यह है कि गूढ़ तत्त्वोंको गुप्त रखना चाहिये। यह प्रत्येकसे कहनेकी वस्तु नहीं है। परन्तु आर्त्त अधिकारीसे वह भी नहीं छिपाया जाता, आर्त्त अधिकारी मिलनेपर संत उसे कह देते हैं। श्रीपार्वतीजीके कथनका भाव कि गूढ़ तत्त्व अनधिकारीसे न कहना चाहिये, पर मैं तो आर्त्त अधिकारिणी हूँ, मुझसे वह तत्त्व आपको छिपाना न चाहिये। (घ) *'न साधु दुरावहिं'* का दूसरा भाव कि तत्त्वका छिपाना उसका आदर करना है, पर जो साधु हैं अर्थात् पराये कार्यको साधते हैं, वे आर्त्त अधिकारी पाकर कह देते हैं। [(ङ) *'आरत अधिकारी'*= वे अधिकारी जो उस तत्त्वको पानेके लिये अत्यन्त आतुर हो रहे हैं और उसकी प्राप्तिके बिना जिनका चित्त बहुत व्याकुल तथा दुःखी रहता है। श्रीकरुणासिंधुजी कहते हैं कि 'संसार और उसका सम्बन्ध जिसे दुःखरूप लग रहा है, जो उससे संतप्त हो रहा है और सत्संग तथा तत्त्व पाकर ही सुखी होगा, वही *'आरत अधिकारी'* है। आरत (आर्त्त)=पीड़ित, दुःखित। कातर] (च) *'जहँ पावहिं'* इति। भाव कि आर्त्त अधिकारी सर्वत्र नहीं मिलते। [*'जहँ'* से सूचित करती हैं कि आर्त्त अधिकारी कहीं भी हो, किसी भी वर्ण या आश्रमका हो, स्त्री वा पुरुष कोई भी हो, गूढ़ तत्त्व उसे उसी अवस्थामें बताया जा सकता है।]

टिप्पणी—४ *'अति आरति पूछौं सुरराया।……'* इति। (क) *'अति आरति पूछौं'* का भाव कि आर्त्त अधिकारी होते हैं और मैं तो अति आर्त्त हूँ। ☞ यहाँतक दोनों प्रकारसे अपनेको अधिकारी जनाया—एक तो दासीभावसे, दूसरे 'अति आर्त्त' से।

अति आर्त्तका लक्षण यह है कि आर्त्त अपना दुःख बारम्बार निवेदन करता है। श्रीपार्वतीजी यहाँ बारम्बार कथा कहनेकी प्रार्थना कर रही हैं, वे अपनेको अति आर्त्त दिखा रही हैं। चरणोंपर पड़ती हैं, हाथ जोड़ती हैं, बारम्बार विनती करती हैं जैसा पूर्व कह आये हैं, यथा—*'बंदौं पद धरि धरनि सिर बिनय करउँ कर जोरि'* इत्यादि सब *'अति आरति'* का स्वरूप है। (ख) *'सुरराया'* का भाव कि देवता 'आर्त्तिहर' होते हैं और आप तो देवताओंमें श्रेष्ठ हैं, देव-देव महादेव हैं। पुनः भाव कि सामान्य राजा आर्त्तको देखकर उसके दुःखको दूर करते हैं और आप तो सुरराया हैं। पुनः, भाव कि आप सुरोंके दुःखको दुष्टोंका दलन करके दूर करते हैं, वैसे ही मेरे मोह-भ्रमरूपी दुष्टोंका नाश करके मेरे अत्यन्त दुःखको दूर कीजिये, ये मुझे अत्यन्त दुःख दे रहे हैं। (ग) *'रघुपति कथा कहहु करि दाया'* इति। (पूर्व *'गूढ़ौ तत्त्व'* और यहाँ *'रघुपति कथा'* शब्द देकर जनाया कि *'रघुपति कथा'* 'गूढ़ तत्त्व' है।) *'करि दाया'* दायाका भाव कि आपका कृपापात्र कथाश्रवणका अधिकारी है। यथा—*'संभु कीन्ह यह चरित सुहावा। बहुरि कृपा करि उमहि सुनावा॥'* (१। ३०। ३)

नोट—२ श्रीशिवजी अनधिकारीसे श्रीरामतत्त्व नहीं कहते। यथा—*'रिषि पूछी हरिभगति सुहाई। कही संभु अधिकारी पाई।'* (१। ४८) *'तव मन प्रीति देखि अधिकाई। तब मैं रघुपति कथा सुनाई॥ यह न कहिअ सठ ही हठसीलहि।……।'* (७। १२८) इत्यादि। अतएव श्रीपार्वतीजी आर्त्त होकर दयाकी अभिलाषिणी हैं। अन्तमें *'कहहु करि दाया'* कहकर जनाया कि मैं तो बारम्बार एकमात्र आपकी कृपाका ही अवलम्ब लिये हुए हूँ। यह भाव दृढ़ करनेके लिये प्रश्नोंके आदि-अन्तमें दयाका सम्पुट दिया है। यहाँ *'कहहु करि दाया'* और अन्तमें *'सोउ दयाल राखहु जनि गोई।'* कहा है।

नोट—३ इन चौपाइयोंसे मिलते-जुलते श्लोक अध्यात्मरामायण बालकाण्ड सर्ग १ में ये हैं **'पृच्छामि तत्त्वं पुरुषोत्तमस्य सनातनं त्वं च सनातनोऽसि॥ गोप्यं यदत्यन्तमनन्यवाच्यं वदन्ति भक्तेषु महानुभावाः। तदप्यहोऽहं तव देव भक्ता प्रियोऽसि मे त्वं वद यत्तु पृष्टम्॥…… जानाम्यहं योषिदपि त्वदुक्तं यथा तथा ब्रूहि तरन्ति येन॥'** ( ७—९ ) अर्थात् मैं आपसे पुरुषोत्तमभगवान्‌का सनातन तत्त्व पूछना चाहती हूँ, क्योंकि आप भी

सनातन हैं। जो अत्यन्त गुप्त रखने योग्य विषय होता है तथा जो अन्य किसीसे कहने योग्य नहीं होता, उसे भी महानुभाव लोग अपने भक्तोंसे कह देते हैं। हे देव! मैं भी आपकी भक्ता हूँ, आप मुझे अत्यन्त प्रिय हैं, अतएव जो मैंने पूछा है उसे कहिये।'......इस तरह समझाकर कहिये कि स्त्री होनेपर भी मैं आपके वचनोंको सहज ही समझ सकूँ। मानसके *'जदपि जोषिता नहिं अधिकारी' 'दासी मन क्रम बचन तुम्हारी', 'गूढ़ौ तत्व न साधु दुरावहिं'* इन उद्धरणोंकी जगह क्रमशः अध्यात्ममें **'जानाम्यहं योषिदपि त्वदुक्तं यथा तथा ब्रूहि', 'तदप्यहोऽहं तव देव भक्ता प्रियोऽसि मे त्वम्'** और **'गोप्यं यदत्यन्तमनन्यवाच्यं वदन्ति भक्तेषु महानुभावाः'** ये वाक्य हैं। अब प्रेमी पाठक मानसके इस अधिकारित्व प्रसंगको अध्यात्मरामायणके उद्धरणसे स्वयं मिलाकर देखें तो उनको स्वयं देख पड़ेगा कि यहाँका वर्णन वहाँसे कहीं उत्तम और बढ़कर हुआ है।

यहाँ श्रीरामचरितरूपी गूढ़ तत्त्वके तीन अधिकारी कहे गये। एक वह जो मन-कर्म-वचनसे तत्त्व-वेत्ताका दास हो। दूसरे जो आर्त्त हो। और, तीसरे, वह जिसपर संतकी दया हो जाय। श्रीपार्वतीजीके इन वचनोंका अभिप्राय स्पष्ट है। वे कहती हैं कि मैं स्त्री होनेके कारण अधिकारिणी नहीं हूँ, क्योंकि स्त्रियाँ प्रायः सहज अज्ञ होती हैं, परन्तु जो मन-कर्म-वचनसे श्रीरामतत्त्ववेत्ताका दास हो वह अधिकारी माना जाता है चाहे वह स्त्री ही क्यों न हो। (यही आशय अध्यात्मरा० का है) यह लक्षण मुझमें अवश्य है। मैं मनसा-वाचा-कर्मणा पातिव्रत्यका अनुसरण कर रही हूँ। ☞ मानसकी पार्वतीजी फिर इस दावेको भी छोड़ देती हैं और दूसरे अधिकारत्वकी शरण लेती हुई कहती हैं। यदि दासीसे भी न कहा जा सके तो 'आर्त्त जिज्ञासु' भी तो अधिकारी होता है। मैं अति आर्त्त हूँ। यह भी न सही, मैं सब प्रकार अयोग्य हूँ। अनधिकारिणी हूँ, तो भी आप मुझे अपनी कृपासे अधिकारिणी बना लीजिये। ☞ यहाँ श्रीपार्वतीजीने अधिकारिणी होनेका अभिमान जब सर्वथा छोड़ दिया तब उनको सन्तोष हुआ कि शिवजी अब अवश्य कृपा करेंगे; इसीसे आगे प्रश्न करना प्रारम्भ कर दिया। अध्यात्मरा० में अपनेको अधिकारिणी जनाकर, उसी दावेपर पूछनेका साहस किया गया है और यहाँ मानसमें वे सब अधिकार होते हुए भी अभिमान छोड़कर अपनेको अनधिकारिणी जनाकर केवल शिवकृपाका ही आश्रय लिया गया है।—यह एक भारी विशेषता है।

## अथ श्रीशिवगीता

वि० त्रि०—'श्रीरामचरितमानस भरद्वाजजीके इस प्रश्नपर खड़ा है कि *'राम कवन प्रभु पूछउँ तोही। कहिअ बुझाइ कृपानिधि मोही॥'* ऐसा ही प्रश्न भगवती हिमगिरि-नन्दिनीने शिवजीसे किया था और शिवजीने उसका समाधान किया था। उसी प्रसङ्गको याज्ञवल्क्यजीने उक्त प्रश्नके उत्तरमें कह डाला। यह रामचरितमानस है। अपने संशयके उन्मूलनके लिये गिरिजाने आठ प्रश्न किये, तत्पश्चात् बारह प्रश्न श्रीरामावतारके चरित्रवर्णन तथा भक्तिज्ञानादि-विषयक किये, एवं गिरिजाके बीसों प्रश्नोंका उत्तर ही श्रीरामचरितमानस है। अन्तमें भगवतीने यह भी विनय किया कि जो कुछ मुझसे पूछनेमें रह गया हो, उसे भी छिपा न रखिये; अर्थात् जानने योग्य जितनी बातें हैं, वे सब गिरिजाजीने पूँछीं और शिवजीने उत्तर दिया। परंतु चार प्रश्नोंके उत्तरमें ही गिरिजाका सब संशय जाता रहा और वे कृतकृत्य हो गयीं। अतः मैं उतने ही अंशको शिवगीता कहता हूँ। अवतारवादमें जो कुछ कहना है, उतनेमें सब कुछ कहा गया।'

श्रीगोस्वामीजीने कहा है कि *'नदी नाव पटु प्रश्न अनेका। केवट कुसल उतर सबिबेका॥'*, अतः यह जानना परमावश्यक है कि किस प्रश्नका कौन-सा उत्तर है। गिरिजा बीस प्रश्न बराबर करती गयीं और शिवजीने भी सबका उत्तर क्रमसे इकट्ठा ही दिया। उनमेंसे पहिले आठके पृथक्करणमें बड़ी कठिनता पड़ती है। यद्यपि श्रीग्रन्थकारने प्रश्नोंको पृथक् करनेके लिये *'हरहु मोर अज्ञाना'*, *'कहहु'* इत्यादि प्रार्थनासूचक लोट् लकारका आठ बार बराबर प्रयोग किया, तथापि उत्तरमें *'सुनहु' 'तजु'* आदि क्रियाओंका भी आठ बार प्रयोग किया है, फिर भी हम-जैसे अल्पज्ञोंको प्रश्न-उत्तरके मिलानमें बड़ी कठिनता पड़ती है। अतः

उनका मिलान नीचे दिया जाता है।

यदि पाठक मिलानके अनुसार प्रश्न और उत्तरको मिला-मिलाकर पढ़ेंगे तो उनको ग्रन्थके समझनेमें बड़ा सुभीता होगा और ग्रन्थकारकी पंडिताईपर चकित होना पड़ेगा कि जै बार '**कहहु**' कहकर प्रश्न है, ठीक उतनी ही बार '**सुनहु**' कहकर उत्तर है, शिवजीने प्रत्येक '**कहहु**' के उत्तरमें '**सुनहु**' कहा है।

| प्रश्न | उत्तर |
|---|---|
| *जौं मोपर प्रसन्न सुखरासी। जानिय सत्य मोहि निज दासी॥ तौ प्रभु हरहु मोर अज्ञाना। कहि रघुनाथ कथा बिधि नाना॥* (१०८। १-२) | १ '*धन्य धन्य गिरिराजकुमारी*' से '*गिरिजा सुनहु राम कै लीला। सुर हित दनुज बिमोहन सीला॥*' तक (११२। ५ से दो० ११३ तक) |
| *जासु भवन सुरतरु तर होई। सह कि दरिद्र जनित दुखु सोई॥ ससिभूषन अस हृदय बिचारी। हरहु नाथ मम मति भ्रम भारी॥* (१०८। ३-४) | २ '*रामकथा सुंदर करतारी*' से '*सादर सुनु गिरिराजकुमारी*' तक। (११४। १-२) |
| '*प्रभु जे मुनि परमारथबादी*' से '*कहहु बुझाइ नाथ मोहि सोऊ।*' (१०८। ५ से १०९। १ तक) | ३ '*रामनाम गुन चरित सुहाए।*' (११४। ३) से '*अस निज हृदय बिचारि तजु संसय । ११५।*' तक |
| *अज्ञ जानि रिसि उर जनि धरहू। जेहि बिधि मोह मिटै सो करहू।*' (१०९। २) | ४ '*भजु रामपद। ११५*' से '*बोले कृपानिधान।*' १२० तक |
| '*मैं बन दीख राम प्रभुताई।*' (१०९। ३) से '*करहु कृपा बिनवौं कर जोरे।*' (१०९। ५) तक | ५ *सुनु सुभ कथा भवानि रामचरितमानस बिमल। कहा भुसुंडि बखानि सुना बिहगनायक गरुड़॥* १२०॥ |
| '*प्रभु मोहि तब बहु भाँति प्रबोधा*' से '*कहहु पुनीत रामगुन गाथा*' तक। १०९ (६—८) | ६ *सो संबाद उदार जेहि बिधि भा आगे कहब। सुनहु राम अवतार चरित परम सुंदर सुखद॥* १२०॥ |
| *बंदउँ पद धरि धरनि सिरु बिनय करउँ कर जोरि। बरनहु रघुबर बिसद जस श्रुतिसिद्धांत निचोरि।* १०९। | ७ *हरिगुन नाम अपार कथा रूप अगनित अमित। मैं निज मति अनुसार कहौं उमा सादर सुनहु* ॥ १२०॥ |
| '*जदपि जोषिता नहिं अधिकारी*' से '*रघुपति कथा कहहु करि दाया।*' तक। ११९ (१—३)। | ८ *सुनु गिरिजा हरिचरित सुहाए। बिपुल बिसद निगमागम गाए॥*' (१२१। १) |

## श्रीपार्वतीजीके प्रश्न

**प्रथम सो कारन कहहु बिचारी। निर्गुन ब्रह्म सगुन बपु धारी॥४॥**
**पुनि प्रभु कहहु राम अवतारा। बालचरित पुनि कहहु उदारा॥५॥**

शब्दार्थ—उदार=बड़ा दानी; देनेमें किञ्चित् संकोच न करनेवाला।—'**उदारो दातृमहतोः**' इति। (अमरकोश ३।३।१९) '*जनु उदार गृह जाचक भीरा॥*' (३। ३९। ८) '*सुनहु उदार सहज रघुनायक। सुंदर अगम सुगम बर दायक॥*' (३। ४२। १) '*ऐसो को उदार जग माहीं। बिनु सेवा जो द्रवै दीन पर राम सरिस कोउ नाहीं॥*' (विनय १६२)= सुन्दर; यथा—'**उदारं सुन्दरं प्रोक्तमुत्कृष्टं पूजितं तथा**' इति (त्रिलोचनः)=सरल; यथा—'*बालचरित अति सरल सुहाए। सारद सेष संभु श्रुति गाए॥*' (२०४। १) '**दक्षिणे सरलोदारौ**' इति। (अमरकोश ३।१।८)

अर्थ—प्रथम उस कारणको विचारकर कहिये जिससे निर्गुण ब्रह्म *'सगुन बपु धारी'** होता है॥ ४॥ हे प्रभो! श्रीरामजीका अवतार कहिये और तब फिर उदार बालचरित कहिये॥ ५॥

नोट—१ श्रीपार्वतीजीकी मुख्य शंका और उनका सिद्धान्त *'प्रथम सो कारन''''''धारी'* में है। उनका सिद्धान्त है कि निर्गुण ब्रह्म सगुण होता ही नहीं—*'ब्रह्म जो व्यापक बिरज अज अकल अनीह अभेद। सो कि देह धरि होइ नृप जाहि न जानत बेद॥'* (५०) देखिये। दूसरे यह कि *'जौं नृप तनय त ब्रह्म किमि॥'* (१०८) अर्थात् जो देह धारण करता है वह निर्गुण ब्रह्म नहीं है। इस प्रकार उनके सिद्धान्तमें ब्रह्म दो हैं, एक निर्गुण, दूसरा सगुण और शिवजीका सिद्धान्त है कि जो निर्गुण है वही सगुण है, दोनों एक ही हैं (१०९। १) *'जौं अनीह व्यापक बिभु कोऊ।''''''* में बताया गया है कि शिवजीकी चेष्टा ही देखकर उन्हें विश्वास हो गया कि ब्रह्म एक ही है, निर्गुण ही सगुण है। अतएव उनका अब केवल यह प्रश्न रह गया कि 'निर्गुण ब्रह्म किस कारण सगुण होता है?' क्यों शरीर धारण करता है?

टिप्पणी—१ *प्रथम सो कारन''''''* इति। (क) पार्वतीजीकी मुख्य शङ्का यही है। उन्हें निर्गुणके सगुण होनेमें संदेह है, इसीसे निर्गुण ब्रह्मके सगुण होनेका ही प्रश्न प्रथम किया। अथवा प्रथम अवतारका हेतु वा प्रयोजन पूछा, फिर अवतारकी लीलाका प्रश्न क्रमसे करती हैं। (ख) यहाँ निर्गुण ब्रह्मका सगुण होना पूछनेसे जाना गया कि उमाजीने अपनी इस शङ्काको कि 'ब्रह्म अवतार नहीं लेता।' शिथिल समझा और शिवजीके—*'सोइ रामु व्यापक ब्रह्म भुवननिकायपति मायाधनी। अवतरेउ अपने भगत हित निज तंत्र नित रघुकुलमनी॥ ५१॥'* अर्थात् ब्रह्म अवतार लेता है—इस उपदेशको पुष्ट समझा। (ग) यहाँ वस्तुतः दो प्रश्न हैं। एक कि 'निर्गुण ब्रह्म सगुण कैसे हुआ?' दूसरे 'वपुधारी कैसे हुआ?' अर्थात् पञ्चतत्त्व-निर्मित शरीर कैसे धारण किया?—[इससे सिद्ध हुआ कि वे समझती हैं कि प्रभुका यह शरीर मनुष्यका-सा पञ्चतत्त्वोंका ही है; यथा—*'छिति जल पावक गगन समीरा। पंचरचित अति अधम सरीरा॥'* (४। ११) अतः *'बपु धारी'* में यह प्रश्न आ गया कि 'उनका शरीर इन्हीं पञ्चतत्त्वोंसे बना है या वे और किसी प्रकार स्वरूप धर लेते हैं, वह शरीर किसी और प्रकारका है?'] (घ) *'कहहु बिचारी'*—भाव कि निर्गुणका सगुण होना बहुत कठिन है। क्या यह बात आपके विचारमें आ सकती है? यहाँ *'कहहु बिचारी'* कहा अर्थात् स्वयं समझकर कहिये और आगे चलकर पुनः कहती हैं कि *'राम ब्रह्म चिनमय अबिनासी। सर्ब रहित सब उर पुर बासी॥ नाथ धरेउ नर तनु केहि हेतू। मोहि समुझाइ कहहु बृषकेतू॥'* (१२०। ६-७) अर्थात् मुझे समझाकर कहिये। *'बिचारी'* और *'समुझाई'* *'कहहु'* का तात्पर्य यह है कि यह शङ्का भारी है, इसे विचारने और समझानेकी आवश्यकता है।

[*'बिचारी'* में यह शङ्का होती है कि 'क्या शिवजी जानते नहीं हैं, अब उसका कारण ढूँढ़ निकालेंगे?' परंतु यह बात नहीं है। पार्वतीजीके कथनका भाव यह है कि निर्गुण ब्रह्म अवतार लेता है,यह तो आपके व्यवहार और प्रभुके ऐश्वर्यसे जो मैंने वनमें देखा था, निश्चय हो गया; परंतु वह क्यों अवतार लेता है, यह समझमें नहीं आता, पूर्णकामको प्रयोजन नहीं हो सकता, सत्यसंकल्पको शरीर-धारणकी आवश्यकता नहीं। अतः उसे इस तरह विचारकर कहिये कि मेरी समझमें आ जाय।]

टिप्पणी—२ *'पुनि प्रभु कहहु राम अवतारा।''''''* इति। (क) अर्थात् रज और वीर्यसे पैदा हुए, गर्भमें रहे कि आकर प्रकट हो गये? गर्भसे प्रकट हुए कि गर्भमें नहीं आये ऐसे ही प्रकट हो गये? और प्रकट होकर जो चरित किये सो कहिये।

नोट—२ *'राम अवतारा।'* यहाँ इस प्रश्नमें अवतार पूछा कि कैसे अवतीर्ण हुए, गर्भसे पैदा हुए कि साक्षात् प्रकट हो गये। परंतु जब शिवजीने चार दोहोंमें *'सगुनहि अगुनहि नहि कछु भेदा॥'* (११६। १) से *'ग्यान बिराग सकल गुन जाहीं॥'* (११९। ६) तक अगुण-सगुणका स्वरूप भली-भाँति समझाया तब

* इसके अर्थ ये हैं—(१) सगुण शरीरधारी होता है। (२) सगुण कैसे होता है? तथा वपुधारी कैसे होता है? (पं० रामकुमार)

इनको पूर्ण विश्वास हो गया कि श्रीरामजी ही निर्गुण और सगुण दोनों हैं, मोह-माया, हर्ष-विषाद इत्यादिका लेश भी इनमें नहीं है, ये *'राम ब्रह्म चिनमय अबिनासी'* हैं और तब इन्होंने श्रीरामजीके अवतारका हेतु भी पूछा। इसीलिये शिवजीने अवतारके साथ अवतारका हेतु भी कहा है। *'नाथ धरेउ नरतनु केहि हेतू॥'* (१२०। ७) का उत्तर *'हरि अवतार हेतु जेहि होई॥'* (१२१। २) से *'यह सब रुचिर चरित मैं भाषा॥'* (१८८। ६) तक है। इसके आगे शुद्ध परात्पर ब्रह्मका अवतार वर्णन किया गया है।

श्रीकरुणासिंधुजी लिखते हैं कि 'इनको पूर्व सतीतनमें तीन संदेह हुए थे, उनका स्मरण करके गर्भित प्रश्न करती हैं। क्रमहीसे दोनों प्रश्नोंके अवान्तर समस्त तात्पर्यसे भरा है। वे सोचती हैं कि हमारे मतमें निर्गुण ब्रह्म सगुण नहीं होता। यदि शिवजी कहेंगे कि निर्गुण सगुणरूप होता है तब मैं समझूँगी कि सतीतनमें मुझसे समझते न बना था, रामचन्द्रजी ही निर्गुण ब्रह्म हैं, भक्तोंके लिये सगुण हुए। दूसरा प्रश्न अवतार और लीलाका यह सोचकर किया कि यदि रामचन्द्रजीको निर्गुण न कहेंगे तो यह कहेंगे कि विष्णुके अवतार हैं, तब मैं यह समझूँगी कि मेरी समझमें गलती थी कि ये विष्णु नहीं हैं। यदि न निर्गुण और न विष्णु ही कहा तो दशरथ-पुत्र कहेंगे; परंतु मैंने वनमें इनके चरित्रमें परात्पर विग्रह-स्वरूप देखा है, यह सोचकर तीसरा प्रश्न लीलाका किया कि इससे उनका यथार्थ स्वरूप स्पष्ट समझमें आ जावेगा। बाकी सब प्रश्न इन्हींके अन्तर्गत हैं।'

वि० त्रि०—रामजी कैसे अवतीर्ण हुए? भाव यह कि सभी अवतारोंके अवतीर्ण होनेकी विधि पृथक्-पृथक् है। नृसिंहभगवान् खम्भेसे अवतीर्ण हुए, वाराह ब्रह्मदेवकी नासिकासे, इत्यादि। ये कैसे अवतीर्ण हुए?

नोट—३ *'बालचरित पुनि कहहु उदारा'* इति। (क) बालचरितको उदार कहनेका भाव कि इसमें थोड़ी ही रीझमें बहुत कुछ दे देते हैं, जैसे बालक लड्डू देख रुपया भी दे देता है, गोदमें आ जाता है, इत्यादि। देखिये, श्रीभुशुण्डीजीको कैसा बड़ा वर मिला। यथा *'मन भावत बर मागउँ स्वामी। तुम्ह उदार उर अंतरजामी॥'* (७। ८४। ८) से *'एवमस्तु कहि रघुकुल नायक''''कबहूँ काल न ब्यापिहि तोही॥'* (७। ८८। १) तक। 'उदार' के सभी अर्थ जो शब्दार्थमें दिये गये यहाँ लगते हैं। बालचरित सुन्दर हैं, सरल हैं, उत्कृष्ट हैं और परम दानशील हैं। पुनः; (ख) उदार=देशकाल-पात्रापात्रका विचार न करके याचकमात्रको स्वार्थरहित मनोवाञ्छित दान देनेवाला। यथा—**'पात्रापात्रविवेकेन देशकालाद्युपेक्षणे। वदान्यत्वं विदुर्वेदा औदार्यं वचसा हरेः॥'** भ० गु० द०, वै०, वि० त्रि० कहते हैं कि इस चरितमें दासोंको अधिक आनन्द मिलता है; यथा *'बालचरित हरि बहु बिधि कीन्हा॥ अति अनंद दासन्ह कहँ दीन्हा।'* इसीसे इसे उदार कहा।

नोट—४ बालचरित-प्रकरण कहाँसे कहाँतक है? इसके और अन्य चरितोंके प्रकरण ठीक-ठीक जाननेके लिये हमें मूल रामायणसे सहारा लेना चाहिये जो श्रीमद्गोस्वामीजीने श्रीभुशुण्डीजीसे उत्तरकाण्डमें कहलाया है। वहाँ बालचरित ऋषि-आगमनतक दिखाया है। यथा—*'तब सिसुचरित कहेसि मन लाई॥ बालचरित कहि बिबिध बिधि मन महँ परम उछाह। रिषि आगमन कहेसि पुनि श्रीरघुबीर बिबाह॥'* (६४) शिशु-चरित तो प्रगट होते ही दोहा १९२ से प्रारंभ हो गया; यथा—*'कीजै सिसु-लीला अति-प्रिय सीला यह सुख परम अनूपा॥ सुनि बचन सुजाना रोदन ठाना होइ बालक सुर भूपा॥'* *'सुनि सिसु रुदन परम प्रिय बानी। संभ्रम चलि आईं सब रानी॥'* परन्तु सिलसिलेसे यह प्रसंग नामकरण-संस्कार होनेपर *'मुनि धन जन सरबस सिव प्राना। बालकेलि रस तेहि सुख माना।'* (१९८। २) से प्रारम्भ होकर *'यह सब चरित कहा मैं गाई।'* (२०६। १) तक गया है।

**कहहु जथा जानकी बिबाही। राज तजा सो दूषन काही॥ ६॥**
**बन बसि कीन्हें चरित अपारा। कहहु नाथ जिमि रावन मारा॥ ७॥**
**राज बैठि कीन्ही बहु लीला। सकल कहहु संकर सुखसीला॥ ८॥**

अर्थ—जिस तरह जानकीजीको ब्याहा सो कहिये। राज्यका त्याग किया सो किस दोषसे?॥ ६॥ वनमें

बसकर जो अपार चरित किये, उन्हें कहिये। हे नाथ! जिस प्रकार रावणको मारा वह कहिये॥ ७॥ हे सुखस्वरूप श्रीशंकरजी! राज्यपर बैठकर श्रीरामजीने बहुत लीलाएँ कीं, वह सब कहिये॥ ८॥

टिप्पणी—१ *'कहहु जथा जानकी बिबाही।'* इति। इस प्रश्नसे मुनि-यज्ञरक्षा, अहल्योद्धार, धनुर्भङ्ग इत्यादि (बालचरितके पश्चात्) जितना भी चरित बालकाण्डकी समाप्तितक है वह सब 'जानकी-विवाह' की कथा है; यथा—*'बालचरित कहि बिबिध बिधि मन महँ परम उछाह। रिषि आगमन कहिसि पुनि श्रीरघुबीर बिबाह॥'* (७। ६४) इस तरह चार प्रश्नोंमें बालकाण्ड समाप्त हुआ। आगेके चरणमें *'राज तजा······'* यह अयोध्याकाण्डका प्रश्न है। एक ही प्रश्नसे अयोध्याकाण्ड पूर्ण हुआ।

नोट—१ मूल रामायणमें 'बालचरित' के पश्चात् 'ऋषि-आगमन' है तब 'श्रीरघुबीर-विवाह'; परंतु यहाँ श्रीपार्वतीजीके प्रश्नोंमें 'बालचरित' के पश्चात् 'विवाह' का प्रश्न है। दोनोंमें भेद नहीं है, क्योंकि ऋषि-आगमन ही विवाहका मुख्य कारण है। श्रीदशरथजी महाराजने जब पुत्रोंके देनेमें संकोच किया, तब वसिष्ठजीने राजाको समझाया है। यथा—*'सब सुत प्रिय मोहि प्रान कि नाईं। राम देत नहिं बनइ गोसाईं॥'* (२०८। ५) *तब बसिष्ठ बहु बिधि समुझावा। नृप संदेह नास कहँ पावा॥'*, वह समझाना यही था कि इनके साथ जानेसे इनका विवाह होगा। कविने विश्वामित्रजीके वचनोंमें भी *'अति कल्यान'* ये शब्द देकर इसी बातको गुप्त रीतिसे कह दिया है। यथा—*'देहु भूप मन हरषित तजहु मोह अज्ञान। धर्म सुजस प्रभु तुम्ह कौं इन्ह कहँ अति कल्यान।'* (२०७) विवाहको 'कल्याण कार्य' कहते भी हैं; यथा—*'कल्यान काज बिबाह मंगल सर्बदा सुख पावहीं।'* (१। १०३) गीतावलीमें भी श्रीविश्वामित्रजीके बहाने विवाह कहा गया है। यथा—*'जनम प्रसंग कह्यो कौसिक मिस सीय स्वयंबर गायो। राम भरत रिपुदवन लखन को जय सुख सुजस सुनायो। तुलसिदास रनिवास रहस बस भयो सब को मन भायो।'* (गी०। १। ४१) विश्वामित्रजीने भी कहा है—*'राजन राम लखन जौं दीजै। जस रावरो लाभ ढोटनिहूँ······।'* (गी० १। ४८) यह बात वाल्मीकीय और अध्यात्मरामायणोंसे भी स्पष्ट है। पुत्र जब विवाह योग्य हुए तब राजाको विवाहकी बड़ी चिंता हुई। उसी समय शिवजी, विश्वामित्रजी आये। यथा—**'अथ राजा दशरथस्तेषां दारक्रियां प्रति॥ ३७॥ चिन्तयामास धर्मात्मा सोपाध्यायः सबान्धवः। तस्य चिन्तयमानस्य मन्त्रिमध्ये महात्मनः॥ ३८॥ अभ्यागच्छन्महातेजा विश्वामित्रो महामुनिः।'** (वाल्मी० १। १८) अर्थात् धर्मात्मा राजा दशरथ मन्त्रियों, बन्धुवर्गों और गुरुसहित पुत्रोंके विवाहके सम्बन्धमें विचार कर ही रहे थे कि उसी समय महातेजस्वी महर्षि विश्वामित्रजीका आगमन हुआ। पुनश्च, **'रामो न मानुषो जातः परमात्मा सनातनः॥ योगमायापि सीतेति जाता जनकनन्दिनी॥ विश्वामित्रोऽपि रामाय तां योजयितुमागतः। एतद्गुह्यतमं राजन्न वक्तव्यं कदाचन।'** (अ० रा० १। ४। १२, १८-१९) अर्थात् वसिष्ठजीने समझाया कि श्रीरामजी मनुष्य नहीं हैं, सनातन परमात्मा हैं और सीताजी योगमाया हैं जो जनकनन्दिनी हुई हैं। दोनोंका संयोग (विवाह) करानेके लिये ही इस समय श्रीविश्वामित्रजी यहाँ आये हैं, यह अत्यन्त गुप्त रहस्य है, इसे कभी किसीसे न प्रकट करना। अतएव श्रीपार्वतीजीने 'ऋषि-आगमन' को 'विवाह' का ही अङ्ग मानकर उसको पृथक् नहीं कहा। ☞ इस तरह *'कहहु जथा जानकी बिबाही'* यह प्रश्न वा प्रसंग *'आगिलि कथा सुनहु मन लाई।'* (१। २०६। १) से बालकाण्डके अन्ततक है और मूलरामायणके अनुसार *'आगिलि कथा सुनहु मन लाई'* से *'रहे कीन्ह बिप्रन्ह पर दाया।'* (१। २१०। ७) तक 'ऋषि-आगमन' प्रसंग है और *'तब मुनि सादर कहा बुझाई। चरित एक प्रभु देखिअ जाई॥ धनुषयज्ञ सुनि······।'* (१। २१०। ८) से *'सियरघुबीर विवाह'* प्रकरण प्रारम्भ होगा।

प० प० प्र०—*'जथा'* का भाव कि जयमाल-स्वयंवरमें ब्याहा या पण-स्वयंवरमें या वीरशुल्का प्राप्त की या ब्राह्म-विवाहविधिसे ब्याहा अथवा दुष्यन्त-शकुन्तला-विवाहके समान गान्धर्व-विधिसे ब्याहा या कन्याकी इच्छासे कन्याके पिता आदिसे युद्ध करके ले आये, इत्यादि, कहिये।

वि० त्रि०—भाव कि माता-पिताने कन्या देखकर विवाह नहीं किया, अपने पुरुषार्थसे श्रीरामचन्द्रजीने श्रीजानकीजीको ब्याहा, सो वह कथा कहिये।

टिप्पणी—२ *'राज तजा सो दूषन काही'।* इति। किस दोषसे राज छोड़ दिया? इस प्रश्नसे जनाया कि राज्यमें कोई दोष देखा होगा तभी उसे छोड़ा, नहीं तो राज्यके लिये लोग संसारमें क्या नहीं करते; उसपर भी *'अवधराज सुरराज सिहाहीं'* ऐसे राज्यको क्यों छोड़ते? इसका उत्तर शिवजीने ***'भूप सजेउ अभिषेक समाजू। चाहत देन तुम्हहि जुबराजू॥ राम करहु सब संजम आजू। जौं बिधि कुसल निबाहै काजू॥ गुरु सिख देइ राय पहिं गयऊ। राम हृदय अस बिसमय भयऊ॥ जनमे एक संग सब भाई। भोजन सयन केलि लरिकाई॥ करनबेध उपवीत बिआहा। संग संग सब भयउ उछाहा॥ बिमल बंस यह अनुचित एकू। बंधु बिहाइ बड़ेहि अभिषेकू॥ प्रभु सप्रेम पछितानि सुहाई।'*** (२। १०। २—८) इन चौपाइयोंमें दिया है। चारों भाइयोंके सब संस्कार जन्मसे लेकर विवाहतक साथ-साथ हुए और राज्य भाइयोंको छोड़कर अकेले मुझ बड़े पुत्रको ही, यह अनुचित समझ उन्होंने राज्यत्यागके उपाय रच दिये और राज्य छोड़ दिया।

नोट—२ इसपर यह शंका होती है कि 'जब इस दोषसे छोड़ा तब फिर उसे ग्रहण क्यों किया?' समाधान—बिना भक्त भरतके राज्य स्वीकार न किया और भरतजीके देनेसे स्वीकार किया। (रा० प्र०) पुराणों तथा रामायणोंसे स्पष्ट है कि श्रीरघुनाथजीने राज्य सब भाइयोंके पुत्रोंको बाँट दिया था।

नोट—३ राज्य तो कैकयीके वरदानके कारण छोड़ा गया, पर यहाँ श्रीरामजीका उसमें दोष देखकर छोड़ना कहा गया। इसका कारण यह है कि श्रीरामजी स्वतन्त्र हैं, वे राज्य ग्रहण करना चाहते तो यह विघ्न होता ही क्यों? यह सब लीला तो प्रभुकी इच्छासे ही हुई। यथा—*'तब किछु कीन्ह राम रुख जानी। अब कुचालि करि होइहि हानी।'* (२। २१८। ३) सत्योपाख्यानमें तो कैकेयीजीसे श्रीरामजीका यह माँगना लिखा है कि हमारे लिये तुम अपयश सहो, यदि तुम्हारा हमपर प्रेम है और कैकेयीजीने उसे स्वीकार भी कर लिया था। अतः जो कुछ भी हुआ वह श्रीरामजीकी इच्छासे।

टिप्पणी—३ *'बन बसि कीन्हें चरित अपारा......'* इति। (क) ☞ इस प्रश्नसे अरण्य, किष्किन्धा और सुन्दर तीन काण्ड समाप्त हुए। वनचरित बहुत हैं इससे *'अपार'* कहा। बहुत चरितका प्रमाण भुशुण्डीजीकी मूल रामायणसे मिलता है। उन्होंने वनचरितकी सूची दो दोहोंसे अधिकमें दी है। यथा—(१) *'सुरपति सुत करनी।'* (७। ६५। ८) (२) *'प्रभु अरु अत्रि भेंट पुनि बरनी।'* (७। ६५। ८) (३, ४) *'कहि बिराध बध,' 'जेहि बिधि देह तजी सरभंग',* (५-६) *'बरनि सुतीच्छन प्रीति पुनि' 'प्रभु अगस्ति सतसंग।'* (६५) (७) *'कहि दंडक बन पावनताई',* (८) *'गीध मइत्री पुनि तेहि गाई',* (९) *'पुनि प्रभु पंचवटी कृत बासा। भंजी सकल मुनिन्ह की त्रासा।',* (१०)*'पुनि लछिमन उपदेस अनूपा'* इत्यादिसे *'सागर निग्रह कथा सुनाई।'* (७। ६७। ८) तक सैंतालीस चरित्र भुशुण्डीजीने गरुड़जीसे वर्णन किये हैं। अतएव *'अपार'* कहा। अथवा, *'अपार'* इससे कहा कि अन्य प्रश्नोंका और विशेषकर कई प्रश्नोंका उत्तर एक ही काण्डमें मिल जाता है और इसका उत्तर तीन काण्डोंमें है। अथवा, जिसका कोई पार न पा सके ऐसे जो गुप्त रहस्य हैं उनमेंसे अनेक वनमें (चित्रकूट, स्फटिकशिला, पंचवटी आदिमें) हुए; अतएव *'अपार'* कहा। अथवा, सतीतनमें प्रभुकी अपार महिमा वनमें देख अत्यन्त सभीत हो गयी थीं, उस चरितका पार न पा सकीं, उसको विचारकर *'अपार'* कहा। (ख) वनमें पर्णकुटी छाकर बहुत दिन (लगभग तेरह वर्ष) रहे, अतएव *'बन बसि'* वनमें बसना कहा। (ग) *'कहहु नाथ जिमि रावन मारा'* से सम्पूर्ण लंकाकाण्डका ग्रहण हुआ। यदि इतना ही कहतीं कि रावणवध कहिये, *'जिमि'* अर्थात् जिस तरह यह शब्द न कहतीं तो शिवजी केवल राम-रावण-संग्राम कहते। सेतुबन्धन, अङ्गद-रावण-संवाद, कुम्भकर्ण-मेघनादादिका वध इत्यादि कुछ न कहते। *'जिमि'* शब्दसे इन सबोंका ग्रहण हुआ। [इससे रावणके मारनेकी विधि पूछी। इसका मारना बड़ा कठिन था। दुर्गम स्थानमें निवास, मेघनाद, कुम्भकर्ण प्रभृतिसे रक्षित, स्वयं तपस्या वरदानादिसे अजेय, सिर कटनेपर भी न मरना आदि ऐसी अनेकानेक बातें थीं। जनकनन्दिनीजी भी इसके मरनेकी विधि त्रिजटासे पूछने लगीं। सो उसके मरनेकी विधि बताइये। (वि० त्रि०)]

टिप्पणी—४ *'राज बैठि कीन्ही बहु लीला।—'* इति। (क) मूलरामायणमें यह प्रसङ्ग इस प्रकार है

*'जेहि बिधि राम नगर निज आए। बायस बिसद चरित सब गाए॥ कहेसि बहोरि राम अभिषेका। पुर बरनत नृपनीति अनेका॥'* (७। ६८) यह प्रसङ्ग उत्तरकाण्डके प्रारम्भसे *'अस कहि मुनि बसिष्ठ गृह आए। कृपासिंधु के मन अति भाए।'* (७। ५०। १) तक है। (ख) *'संकर सुखसीला'* कहनेका भाव यह है कि आप सब चरित (जो राज्यपर बैठकर श्रीरामचन्द्रजीने किये) मुझसे कहकर मुझे सुख दीजिये, जैसे श्रीरामचन्द्रजीने अपने चरित्रोंद्वारा श्रीअवधपुरवासियोंको सुख दिया था। श्रीरामचन्द्रजीने राजा होनेपर राज्यलीलासे पुरवासियोंको सुख दिया, अतएव पुरवासी उन्हें 'सुखराशि' कहते थे; यथा—*'रघुपति चरित देखि पुरबासी। पुनि पुनि कहहिं धन्य सुखरासी।'* (७। २०। ६) आप मुझे सुनाकर सुख देंगे, अतएव आप भी 'सुखशील' हैं। श्रीरामचन्द्रजीने श्रीअवधमें अपने चरितसे पुरवासियोंको सुख दिया था, श्रीशिवजीने कैलासपर श्रीरामचरित सुनाकर श्रीपार्वतीजीको सुख दिया। श्रीरामचरितसरितमें स्नान करनेवालोंको आज भी वही सुख होता है। यथा—*'भरत राम रिपु दवन लखन के चरित सरित अन्हवैया। तुलसी तब के से अजहूँ जानिबे रघुबर नगर बसैया॥'* (गीतावली १। ९। ६) तब श्रीपार्वतीजीको सुख क्यों न हो। कुछ महानुभाव *'सुखसीला'* को लीला और शंकर दोनोंका विशेषण मानते हैं। क्योंकि चरित देखकर पुरवासी सुखी हुए थे, जैसा ऊपर कहा गया है। [☞ 'सुखशील' का भाव कि रामराज्यसे ऐसा सुख हुआ कि आजतक भारत उसे भूलता नहीं। जब बहुत सुख मिलता है तब लोग कहते हैं कि रामराज्य है। आप सुखशील हैं, ऐसे सुखकी कथा कहिये। (वि० त्रि०)]

## दोहा—बहुरि कहहु करुनायतन कीन्ह जो अचरज राम।
## प्रजा सहित रघुबंसमनि किमि गवने निज धाम॥ ११०॥

अर्थ—फिर (तत्पश्चात्), हे करुणाधाम! जो आश्चर्य (की बात) श्रीरामजीने किया वह कहिये। रघुकुलशिरोमणि श्रीरामजी प्रजा-सहित अपने धामको कैसे गये?॥ ११०॥

टिप्पणी—१ *'करुनायतन'* इति। पार्वतीजी जानती हैं कि शिवजी श्रीरामजीकी *'निजधाम यात्रा'* न कहेंगे। उनकी अरुचि जानकर उसको कहलानेके लिये *'करुनायतन'* सम्बोधन देकर सूचित करती हैं कि मुझपर करुणा करके यह चरित कहिये। यद्यपि पार्वतीजीने बहुत नम्रतापूर्वक यह प्रश्न किया तथापि शिवजीने परधाम-यात्रा नहीं ही कही। (ख) *'कीन्ह जो अचरज राम'* इति। आश्चर्यकी बात कहा, क्योंकि किसी और अवतारमें ऐसा नहीं हुआ कि भगवान् सदेह अपने धामको गये हों और अपनी प्रजाको भी साथ ले गये हों। यह अद्भुत चरित इसी अवतारमें देखा गया। (ग) ☞ अवतारसे लेकर निजधाम-यात्रातक पृथक्-पृथक् कथाएँ पूछकर अन्तमें फिर उन्होंने यह भी कह दिया कि *'जो प्रभु मैं पूछा नहिं होई। सोउ दयाल राखहु जनि गोई॥'* जिसमें एक भी चरित रह न जाय।—इससे श्रीपार्वतीजीकी श्रीरामकथामें अत्यन्त प्रीति प्रकट होती है। (यह प्रीति देखकर ही शिवजीने श्रीरामचरित कहा—*'तव मन प्रीति देखि अधिकाई। तब मैं रघुपति कथा सुनाई॥'* (७। १२८)

वि० त्रि०—*'कीन्ह जो अचरज······'* इति। प्रजाप्रेमकी पराकाष्ठा हो गयी। सम्पूर्ण प्रजाको कैसे साथ ले गये? '**कर्म वैचित्र्यात् सृष्टिवैचित्र्यम्**', कर्मकी विचित्रतासे ही सृष्टिमें वैचित्र्य है। सबका कर्म एक साथ ही कैसे समाप्त हुआ, जो सब-के-सब मुक्त हो गये?

### *'किमि गवने निज धाम'*

इस प्रश्नका उत्तर श्रीरामचरितमानसमें स्पष्ट रीतिसे कहीं नहीं पाया जाता। गुप्त रीतिसे इसका उत्तर अवश्य उत्तरकाण्डमें सूचित कर दिया गया है, ऐसा बहुतोंका मत है। उनका मत है कि श्रीरामस्वरूपका बोध हो जानेसे श्रीपार्वतीजीको गुप्त उत्तरसे पूर्ण संतोष हो गया, उनको उत्तर मिल गया, नहीं तो वे कथाकी समाप्तिपर अवश्य इस प्रश्नका उत्तर माँगतीं। दूसरा मत है कि श्रीशिवजीने इस प्रश्नका उत्तर गुप्त या प्रकट किसी रूपसे दिया ही नहीं।

कुछ महानुभावोंने यह प्रश्न उठाकर कि 'परमधाम-यात्रा स्पष्ट शब्दोंमें क्यों वर्णन नहीं की गयी

अथवा इस दोहेके प्रश्नोंका उत्तर स्पष्ट क्यों नहीं कहा गया?' उसका उत्तर भी अपने-अपने मतानुसार दिया है। हम पहिले उनमेंसे कुछका उल्लेख यहाँ करते हैं—

१ परधाम-यात्राके सम्बन्धमें ऋषियोंके मत भिन्न-भिन्न हैं। कितने ही मतोंसे इसके उत्तरमें विरोध पड़ता। श्रीगोस्वामीजीने प्रश्न तो कहा 'पर चित्त उनका अत्यन्त कोमल था, अन्तमें उपरामकी बात न कही जा सकी।' (बाबा रामदासजी)

२ उपासकोंका भाव यह है कि श्रीरामचन्द्रजी श्रीअयोध्याजीमें नित्य विहार करते हैं, अतएव उनके भावानुसार किसी अन्य धाममें उनकी यात्रा हुई ही नहीं। वा, इसीसे 'विरस जानकर यात्रा न कही।' (वन्दन पाठकजी) गुप्त उत्तरसे उपासकोंकी भावनाके विरुद्ध भी न पड़ा और उत्तर भी हो गया।

३ *'उमा अवधबासी नर नारि कृतारथ रूप। ब्रह्म सच्चिदानंदघन रघुनायक जहँ भूप॥'* (७। ४७) में प्रजाका नित्यधाम-गमन गुप्तरूपसे कहा गया है। क्योंकि 'कृतार्थरूप' कहनेसे प्रजाका आवागमनरहित होना सूचित कर दिया गया है। ब्रह्म श्रीराम जहाँके राजा हैं वह सच्चिदानन्दघन है, 'अप्राकृत' है अर्थात् साकेत केवल सच्चिदानन्द है यह सूचित किया। (रा० प्र० से उद्धृत)

रा० प्र० कार लिखते हैं कि 'इस प्रश्नको उत्तरके योग्य न विचारकर उत्तर न लिखा। क्योंकि साकेत और श्रीअवध एक ही पदार्थ हैं। जैसे साकेतविहारी और अवधविहारी नाममात्र दो हैं, इसी प्रकारसे व्यवस्था श्रीसाकेत और श्रीअवधकी जानो।'—[प्रमाण, सदाशिवसंहिता, यथा—**'भोगस्थानं पराऽयोध्या लीलास्थानं त्विदं भुवि। भोगलीलापती रामो निरङ्कुशविभूतिकः॥'** (स० शि० सं० पटल ५)]—*'अवधहि में प्रगट भए हैं अवधहि में पुनि रहे समाय।'* इसीलिये इस प्रश्नका खण्डन—*'उमा अवधबासी नर नारि कृतारथ रूप'*······' इस दोहेमें किया। यहाँ कृतार्थरूप कहकर और ठौर जानेका भ्रम दूर किया, क्योंकि वे कृतार्थरूप हैं, और ठौर क्यों जायेंगे? जहाँके राजा ब्रह्मसच्चिदानन्दघन रघुनायक हैं वहाँका त्याग किस भाँति सम्भव है? यहाँ *'बहुरि कहहु करुनायतन'*······' इस प्रश्नको व्यर्थ ठहराया' (व्यर्थ ठहराया अर्थात् पुरवासियोंको किस तरह और कहाँ ले गये, यह प्रश्न ही *'नर नारि कृतारथ रूप'*······' जान लेनेपर अब नहीं उठता या रह जाता)।

सारांश, तात्पर्य यह निकला कि श्रीपार्वतीजीको श्रीरामतत्त्वका उस समय यथार्थ बोध न होनेसे उनका *'प्रजा सहित रघुबंसमनि किमि गवने निज धाम'* यह प्रश्न करना उचित ही था। परन्तु रामतत्त्वके ज्ञाता श्रीशिवजीने जब उन्हें बोध करा दिया कि *'अवधबासी नर नारि कृतारथरूप'*······' हैं तब उनका *'निज धाम गवन'* का संदेह ही निवृत्त हो गया, इसीसे उन्होंने कथाके बाद यह कहा कि *'ज्ञानेउ रामप्रताप प्रभु चिदानंदसंदोह।'* (उ० ५२) जो शिवजीने *'ब्रह्म सच्चिदानंदघन रघुनायक जहँ भूप'* कहा था, वही *'प्रभु चिदानंदसंदोह।'* श्रीपार्वतीजीके वचनोंमें है।

बाबा श्रीजयरामदासजी रामायणी (साकेतवासी) लिखते हैं कि 'इस प्रश्नका उत्तर शिवजीने दिया ही नहीं है, इसीसे इस ग्रन्थमें वह कहीं नहीं मिलता। उत्तर न देनेका कारण यह है कि 'श्रीपार्वतीजीने कुल १४ प्रश्न किये हैं। उन्हें दो विभागोंमें विभक्त किया जा सकता है। प्रथम भागमें ८ प्रश्न हैं—*'प्रथम सो कारन कहहु बिचारी। निर्गुन ब्रह्म सगुन बपुधारी'* से *'राज बैठि कीन्ही बहु लीला। सकल कहहु संकर सुभ सीला'* तक। 'उपर्युक्त प्रथम ८ प्रश्नोंका आरम्भ *'प्रथम'* शब्दसे होता है और उनकी समाप्ति राजगद्दीकी प्राप्ति-विषयक प्रश्नपर होती है। उसके आगे *'बहुरि'*—शब्दसे दूसरा भाग आरम्भ होता है। उसमें छः प्रश्न हैं, जिनमें श्रीरघुनाथजीके स्वरूपका बोध न होनेके कारण कुतर्कके आभास एवं असम्भावनाकी आशङ्कासे युक्त पहला प्रश्न तो यही है। इसके सिवा ५ क्रमशः भगवत्तत्त्व, भक्ति, ज्ञान, विज्ञान और वैराग्यके विषयमें हैं। यथा—*'बहुरि कहहु करुनायतन कीन्ह जो अचरज राम।'*······।' जब श्रीशङ्करजीने *'पुरुष प्रसिद्ध प्रकासनिधि प्रकट परावरनाथ'* से *'राम सो परमातमा भवानी। तहँ भ्रम अति अविहित तव बानी'* इस चौपाईतक पार्वतीजीको श्रीरघुनाथजीके स्वरूपका बोध करा दिया, तब श्रीपार्वतीजीकी सारी कुतर्ककी रचना

नष्ट हो गयी और उन्हें जो श्रीरघुनाथजीका प्रजावर्गसहित निजधामको जाना असम्भव-सा जान पड़ता था वह सारी दारुण असम्भावना नष्ट हो गयी, ""'*सुनि सिवके भ्रम भंजन बचना। मिटि गइ सब कुतर्क की रचना॥ भइ रघुपति पद प्रीति प्रतीती। दारुन असंभावना बीती॥*'—तब वे श्रीमहादेवजीके चरणकमलोंको स्पर्शकर हाथ जोड़कर कहने लगीं—'*ससिकर सम*""*तुम कृपालु सब संसय हरेऊ। राम स्वरूप जान मोहि परेऊ॥*""*प्रथम जो मैं पूछा सोइ कहेहू।*' अर्थात् अब मुझे श्रीरामजीके स्वरूपका बोध हो गया है""मुझे अपनी किङ्करी जानकर मैंने पहले (श्रीरामचन्द्रजीके सिंहासनारूढ़ होनेतकके आठ) प्रश्न किये हैं, अब '*सोई*'—केवल उतनोंहीका वर्णन कीजिये। [तात्पर्य कि इसके आगे '*बहुरि*' शब्दसे आरम्भ होनेवाले छः प्रश्नोंको मैं वापस लेती हूँ। अब उनके उत्तर सुननेकी मुझे आवश्यकता नहीं है। अतः वे खारिज समझे जायँ]। इस प्रकार जब प्रश्नकर्त्ताहीने अपने प्रश्नोंको निकाल दिया तो वक्ता उत्तर कैसे दे सकता है? इसी उत्तरकाण्डमें राज्याभिषेकतकका चरित्र सुनानेके पश्चात् जब शिवजीने कहा कि '*अब का कहौं सो कहहु भवानी*' तब उन्होंने '*बायस तनु रघुपति भगति मोहि परम संदेह*' इत्यादिसे नया प्रश्न श्रीकाकभुशुण्डिजीके विषयमें किया है। इससे सिद्ध है कि अब उन्हें पीछेके प्रश्नोंका उत्तर सुननेकी इच्छा नहीं थी।'

किसी-किसी महानुभावका मत है कि इस प्रश्नका उत्तर '*एक बार रघुनाथ बुलाए*""*।*' (७।४३) से '*गए जहाँ सीतल अमराई। भरत दीन्ह निज बसन डसाई॥ बैठे प्रभु सेवहिं सब भाई। मारुतसुत तब मारुत करई।*' (७। ५०) तकमें गुप्तरूपसे है। शीतल अमराईसे लौटकर फिर घरमें आना वर्णन नहीं किया गया और प्रसङ्गकी समाप्ति कर ही दी गयी। अतएव समझना चाहिये कि इतनेसे ही निजधामयात्रा सूचित कर दी गयी है। और कोई कहते हैं कि '*हनूमान भरतादिक भ्राता। संग लिए सेवक सुखदाता॥*' '*पुनि कृपाल पुर बाहेर गए*' इन अर्धालियोंमें पुर-बाहर जाना कहकर परमधाम-यात्रा, और '*सेवक*' कहकर '*प्रजा*' को संग लिये जाना सूचित कर दिया गया है, यथा—'*हम सेवक स्वामी सियनाहू। होउ नात एहि ओर निबाहू॥*' पुनः सेवकसे सुग्रीवादि सखा-सेवकोंको भी साथ ले जाना जना दिया। '*गए जहाँ सीतल अमराई*' के शीतल अमराईसे निजधाम साकेतलोक सूचित किया।

संत उन्मनी टीकाकार, पं० शिवलाल पाठक और श्रीपंजाबीजी इस दोहेमें दो प्रश्न मानते हैं। १—'*कीन्ह जो अचरज राम*' अर्थात् कौन-कौन आश्चर्यजनक कार्य किये? २—प्रजासहित निजधाम क्यों कर गये? मयंककार लिखते हैं कि 'प्रथम आश्चर्य यह है कि अपने विश्वास-निमित्त श्रीरामचन्द्रजीने श्रीजानकीजीसे शपथ कराया""चौथा आश्चर्य यह है कि मनुष्य-शरीरसे किस प्रकार परधाम गये? और पाँचवाँ यह कि क्या इस अयोध्यासे श्रेष्ठ कोई अन्य रामचन्द्रजीका धाम है?

वेदान्तभूषणजी—प्रत्येक प्रधान भगवदवतारोंके निजधामगमनमें कुछ विलक्षणता है। जैसे, नृसिंहजीका शरभ-शिवसे युद्ध करके, श्रीकृष्णजीका व्याधके बाणद्वारा इत्यादि। वैसे ही मुख्यतम अवतार श्रीरामजीके भी निजधामगमनमें जो विलक्षणता हो वह कहिये। अयोध्याके प्रतापी राजाओंमेंसे कई एक राजा अपनी अयोध्यानिवासी प्रजाको साथ लिये भगवल्लोकको गये हैं। सत्यवादी राजा हरिश्चन्द्र, रुक्माङ्गदजी, ऋषभजी और कुशजी अयोध्याके समस्त जीवोंसहित परधामको गये हैं। और श्रीरामजी एक तो मुख्यतम अवतार, दूसरे अवधनरेशोंमें सबसे प्रतापी रघुवंशमणि थे, अतः वे अवश्य अवधनिवासी प्रजाओंके साथ स्वधामको गये होंगे। अतएव उस गमनका चरित्र भी कहिये। पार्वतीजी यह समझे बैठी हैं कि अन्य अवतारोंकी तरह श्रीरामजी भी कहींसे आकर फिर चले गये होंगे; क्योंकि '*अवतरेउ अपने भगतहित निज तंत्र नित रघुकुलमनी*' यह बात सतीजीसे स्वयं श्रीशिवजीने ही कही थी और इस समय पार्वतीजीको '*पूरुब जन्म कथा चित आई*' है, इसीसे उन्होंने ऐसा प्रश्न किया कि निजधामको कैसे गये? परंतु शिवजी तो जानते हैं कि प्रभु '*अवधहीसे प्रगट हुए और अवधमें ही रहत समाय*' इसीसे उन्होंने कहा कि '*राम अनादि अवधपति सोई*' अर्थात् श्रीरामजी कहींसे आते नहीं और जब आते ही नहीं तो जायँगे कहाँ? अतः '*उमा अवधबासी नर नारि कृतारथरूप।*""' यही पार्वतीजीके प्रश्नका उत्तर भी है।

इस दीन (सम्पादक) की समझमें तो श्रीपार्वतीजीने जितने प्रश्न किये, उनमेंसे कोई भी वापस नहीं लिये गये। यदि श्रीरामचरित (परमधाम) के बाद प्रश्न वापस लिये गये होते तो शिवजीने श्रीरामचरित वर्णन करते हुए बीच-बीचमें उनकी व्याख्या न की होती। केवल बात यह है कि श्रीरामचरितमें ही भक्ति, ज्ञान, वैराग्यादि सभी सिद्धान्तोंके प्रश्न किसी-न-किसी पात्रद्वारा उठाये गये हुए और उनके उत्तर दिये हुए बराबर पाये जाते हैं। श्रीपार्वतीजी न जानती थीं कि भक्ति आदि भी श्रीरामचरितके अंग हैं, इसीसे उन्होंने प्रश्न किया। जब उत्तर मिल ही गया तो अन्तमें फिर कैसे पूछतीं? फिर पूछतीं तो समझा जाता कि कथा ध्यान देकर नहीं सुनीं एवं बड़ी मूर्ख हैं। बुद्धिमान्‌के लिये इशारा काफी है। प्रश्नकर्ताका सन्तोष हो गया, फिर क्यों वह पूछता? दूसरे, यदि प्रश्न वापस लेतीं तो अपनी 'चोरी' आदि और गुप्त रहस्य शिवजी न कहते। विशेष आगे (१११। १—५) में भी देखिये। यह मेरा अपना विचार है और महानुभावोंको जो रुचे उनके लिये वही अच्छा है। सन्तोष हो जाना चाहिये।

प० प० प्र०—*'किमि गवने निज धाम'* के उत्तरका उपक्रम यों किया है—*'जानि समय सनकादिक आए।'* (७। ३२। ३) यहाँके *'समय'* शब्दका भाव 'निजधाम-गमन-समय' लेना आवश्यक है, अन्यथा शब्दगत निरर्थक दोष घटित होगा, क्योंकि नारद और सनकादिक तो प्रतिदिन अयोध्यामें आते थे और दरबारमें ही आते थे, यह *'नारदादि सनकादि मुनीसा। दरसन लागि कोसलाधीसा॥ दिन प्रति सकल अयोध्या आवहिं।'* के 'कोसलाधीश' शब्दसे सिद्ध होता है। 'कोसलाधीश' से राज्यसिंहासनासीन दरबारमें बैठे हुए श्रीराम अभिप्रेत हैं। इस उद्धरणमें *'समय जानि' 'अवसर जानि'* इत्यादि शब्द नहीं हैं। उपसंहारमें भी *'तेहि अवसर मुनि नारद आए करतल बीन।'* (७। ५०) ऐसा कहा है। जब भगवान् प्रजासहित निजधाम-गमन करनेको तैयार हुए उसी अवसरपर नारदजी आये।

साक्षात् निजधाम-गमनके समय जो अन्तिम स्तुति नारदकृत है उसमें रघुपति, रघुनाथ इत्यादि रघुवंश या रविकुलसम्बन्धी एक भी शब्द नहीं है। *'गावन लागे राम कल कीरति सदा नवीन'* उपक्रम है और *'तुलसिदास प्रभु पाहि प्रनतजन।'* (७। ५१। ९) उपसंहार है। 'राम' शब्दसे उपक्रम किया और 'प्रभु' शब्दसे उपसंहार किया, क्योंकि रघुकुल वा रविकुलका सम्बन्ध छोड़कर प्रभु राम ही उस समय निज-धामको जा रहे थे, रघुवंशमणि निजधाम नहीं गये। प्रभु राम गये (इस स्तुतिमें *'दसरथकुल कुमुद सुधाकर'* और कोसलामण्डन शब्द आये हैं)।

और भी प्रमाण देखिये—वसिष्ठजीने अवतारकालमें कभी श्रीरामजीकी ऐश्वर्यभावसे न तो स्तुति ही की और न कुछ माँगा ही, क्योंकि गुरु-शिष्य-सम्बन्धका निर्वाह आवश्यक था। पर जब उन्होंने देखा कि प्रभु आज-कलमें परमधाम सिधारनेवाले हैं तब वे स्वयं राजमहलमें गये और ऐश्वर्यभावसे स्तुति करके उन्होंने वर भी माँग लिया। इससे भी बलवत्तर प्रमाण *'मारुतसुत तब मारुत करई। पुलक बपुष लोचन जल भरई॥'* (७। ५०। ७) यह चौपाई है। सेवामें पुलकवपुष होना स्वाभाविक है, पर लोचन-जलका उल्लेख रामसेवारत हनुमान्‌जीके चरित्रमें नहीं है, यह लोचनजल रामवियोग-दुःखजनित है। (उत्तरकाण्डमें देखिये) दूसरा जो सम्पादकजीका मत है वही उचित है।

**पुनि प्रभु कहहु सो तत्त्व बखानी। जेहि बिज्ञान मगन मुनि ज्ञानी॥ १॥**
**भगति ज्ञान बिज्ञान बिरागा। पुनि सब बरनहु सहित बिभागा॥ २॥**
**औरौ राम रहस्य अनेका। कहहु नाथ अति बिमल बिबेका॥ ३॥**

शब्दार्थ—**तत्त्व**=वास्तविक यथार्थ पदार्थ। **बिज्ञान**=विशेष ज्ञान; अनुभव।=ब्रह्मलीन दशा। (मं० श्लो० ४, १। १८। ५; १। ३७। ९) *'कहब ज्ञान बिज्ञान बिचारी'* में देखिये। **बिभाग**=प्रत्येक भाग। कई खण्डों या वर्गोंमें विभक्त वस्तुका एक-एक खण्ड या वर्ग; अंश, भाग। **औरौ**=और भी। रहस्य, गुप्त एवं गूढ़ चरित्र।

अर्थ—हे प्रभो! फिर वह तत्त्व विस्तारपूर्वक कहिये जिसके विशेष ज्ञान एवं साक्षात्कारमें ज्ञानी मुनि डूबे रहते हैं॥ १॥ फिर भक्ति, ज्ञान, विज्ञान और वैराग्य इन सबोंको (अर्थात् इन चारोंके स्वरूपोंको)

उनके प्रत्येक भागसहित (पृथक्-पृथक्) वर्णन कीजिये॥ २॥ और भी जो श्रीरामजीके अनेक रहस्य (गुप्त चरित) हैं उन्हें भी कहिये। हे नाथ! आपका ज्ञान अत्यन्त निर्मल है॥ ३॥

टिप्पणी—१ ***'पुनि प्रभु कहहु सो तत्व बखानी'*** इति। (क) ऊपर कहा था कि ***'गूढ़उ तत्व न साधु दुरावहिं'*** अब वही गूढ़ तत्त्व पूछ रही हैं। विज्ञानसे गूढ़ तत्त्व लख पड़ता है, इसीसे ***'जेहि बिग्यान'*** पद दिया। (ख) ***'सो तत्व जेहि'*** का भाव कि सब विद्याओंका तत्त्व होता है सो मैं नहीं पूछती, किंतु मैं वही तत्त्व पूछती हूँ जिसमें विज्ञानी मुनि मग्न रहते हैं। (ग)☞ श्रीपार्वतीजीने श्रीरामचरित पूछकर तब तत्त्व, भक्ति, ज्ञान, विज्ञान, वैराग्य और रामरहस्य पूछे। (इसका कारण यह है कि वे समझती थीं कि ये सब बातें रामायणमें नहीं हैं। इसीसे उन्होंने ये प्रश्न अलग किये। ☞ यहाँ सहज जिज्ञासुका स्वरूप दिखाया है कि वह अज्ञ होता है।) श्रीशिवजीने इन सब प्रश्नोंके उत्तर भी रामायणके अन्तर्गत ही कह दिये, इसीसे रामचरितके पश्चात् इनके उत्तर नहीं दिये। यदि पृथक् उत्तर देते तो समझा जाता कि ये सब रामायणमें नहीं हैं।

वि० त्रि०—सगुणविषयक प्रश्न करके अब शुद्ध निर्गुणरूप पूछती हैं। सिद्धिविषयक बातें पूछकर फिर साधनके विषयमें पूछती हैं कि भक्ति, ज्ञान, विज्ञान और वैराग्यको विभागसहित कहिये, क्योंकि ये चारों साधन पृथक् होनेपर भी परस्पर उपकारी हैं।

नोट—१ (क) ***'पुनि प्रभु कहहु सो तत्व बखानी।'......'*** का उत्तर, यथा—***'धरे नाम गुर हृदय बिचारी। बेदतत्व नृप तव सुत चारी॥'*** (१। १९८। १) ***'जोगिन्ह परम तत्वमय भासा। शांत सुद्ध सम सहज प्रकासा॥'*** (१। २४२। ४) इस प्रकार ***'तत्त्व'***=गूढ़ तत्त्व, परम तत्त्व=ब्रह्म। यह अर्थ कोशोंमें भी है।

(ख) भक्ति, ज्ञान, विज्ञान और वैराग्यके उत्तर क्रमसे सुनिये। (१) 'भक्ति' का उत्तर ***'भगति निरूपन बिबिध बिधाना।'*** (१। ३७। १३) में देखिये। (२) 'ज्ञान' का उत्तर है ***'ग्यान मान जहँ एकौ नाहीं। देख ब्रह्म समान सब माहीं॥'*** (३। १५। ७) ज्ञानका स्वरूप ४। ७। १४—२२ में यों दिखाया है—***'प्रभुहि जानि मन हरष कपीसा॥ उपजा ग्यान बचन तब बोला। नाथ कृपा मन भयउ अलोला॥ सुख संपति परिवार बड़ाई। सब परिहरि करिहउँ सेवकाई॥ ए सब राम भगति के बाधक। कहहिं संत तव पद अवराधक॥ सत्रु मित्र सुख दुख जग माहीं। मायाकृत परमारथ नाहीं॥ सपनें जेहि सन होइ लराई। जागें समुझत मन सकुचाई॥ अब प्रभु कृपा करहु एहि भाँती। सब तजि भजन करौं दिन राती॥ सुनि बिराग संजुत कपि बानी।'*** पुनः, यथा—***'तारा बिकल देखि रघुराया। दीन्ह ग्यान हरि लीन्ही माया॥ छिति जल पावक गगन समीरा। पंच रचित अति अधम सरीरा॥ प्रगट सो तनु तव आगे सोवा। जीव नित्य केहि लगि तुम्ह रोवा॥ उपजा ग्यान चरन तब लागी। लीन्हेसि परम भगति बर माँगी॥'*** (४। ११। ३-४) पुनः, अयोध्याकाण्डमें निषादराजको लक्ष्मणजीने ज्ञान-वैराग्य-भक्तिरस-मिश्रित उपदेश दिया है जो 'लक्ष्मणगीता' नामसे प्रसिद्ध है। यथा—***'बोले लषन मधुर मृदु बानी। ग्यान बिराग भगति रस सानी॥ काहु न कोउ सुख दुख कर दाता। निज कृत करम भोगु सबु भ्राता॥ जोग बियोग भोग भल मंदा। हित अनहित मध्यम भ्रम फंदा॥ जनमु मरनु जहँ लगि जग जालू। संपति बिपति करम अरु कालू॥ धरनि धाम धनु पुर परिवारू। सरगु नरकु जहँ लगि ब्यवहारू॥ देखिअ सुनिय गुनिय मन माहीं। मोह मूल परमारथ नाहीं॥ सपनें होइ भिखारि नृप रंकु नाकपति होइ। जागें लाभ न हानि कछु तिमि प्रपंच जिय जोइ।'*** (९२) इत्यादिसे ***'भगत भूमि भूसुर सुरभि'*****।** (९३) तक। (३) विज्ञान, यथा—***'तिन्ह सहस्र महँ सब सुखखानी। दुर्लभ ब्रह्मलीन बिग्यानी॥'*** (७। ५४। ५) श्रीपार्वतीजीके इन वचनोंसे स्पष्ट है कि ब्रह्ममें लीन होना ही 'विज्ञान' है। इस तरह विज्ञानका उत्तर ***'ब्रह्मानंद सदा लय लीना। देखत बालक बहु कालीना॥'*** (७। ३२। ४) ***'ब्रह्मानंद लोग सब लहहीं। बढ़इ दिवस निसि बिधि सन कहहीं॥'*** इत्यादि। (४) ***'बिराग'*** का उत्तर, यथा—***'कहिअ तात सो परम बिरागी। तृन सम सिद्धि तीनि गुन त्यागी॥'*** (३। १५ ८) (किसीने ज्ञानदीपक-प्रसङ्गको ज्ञान, विज्ञानके उत्तरमें दिया है; पर वह पार्वतीजीके प्रश्नका उत्तर नहीं है)।

टिप्पणी—२ *'भगति ज्ञान बिज्ञान……'* इति। भक्तिको प्रथम कहा क्योंकि ज्ञान और वैराग्य दोनों भक्तिके पुत्र हैं। *'बिभाग सहित'* का भाव कि इनका एक साथ भी वर्णन हो सकता है। यथा—*'भगतिहि ज्ञानहि नहिं कछु भेदा। उभय हरहिं भव संभव खेदा॥'* (७। ११५) इस तरहका वर्णन वे नहीं चाहतीं। उनको पृथक्-पृथक् सुननेकी श्रद्धा है, इसीसे विभागसहित कहनेकी प्रार्थना की।

टिप्पणी—३ *'औरौ राम रहस्य अनेका।……'* इति। (क) *'औरौ'* का भाव कि पूर्व जो तत्त्व, भक्ति, ज्ञान, विज्ञान आदिके प्रश्न किये वे सब भी 'रहस्य' हैं, यथा—*'यह रहस्य रघुनाथ कर बेगि न जानइ कोइ।'* (७। ११६) (ज्ञान और भक्तिके भेदके सम्बन्धमें ऐसा कहा गया है)। इनके अतिरिक्त और भी जो अनेक रामरहस्य हैं उन्हें कहिये। यदि *'औरौ राम रहस्य'* न कहकर केवल रहस्य कहतीं तो भ्रम होता कि किसका रहस्य कहें, क्योंकि शिवरहस्य, देवीरहस्य, विष्णुरहस्य आदि अनेक रहस्य हैं। अत: *'रामरहस्य'* कहकर जनाया कि केवल श्रीरामजीके और रहस्य पूछती हैं। (ख) *'अनेका'* का भाव कि कोई संख्या देकर रामरहस्य पूछतीं तो प्रीतिकी इति समझी जाती कि बस इतना ही सुननेकी इच्छा है, आगे नहीं। *'अनेक'* कहकर जनाया कि सब कहिये, जितने आप जानते हों, एक-दो कहकर न रह जाइयेगा। (ग) *'अति बिमल बिबेका'* इति। रामरहस्य गुप्त वस्तु है, किसीको वह देख नहीं पड़ता और न कोई उसे जान सकता है। यथा—*'यह रहस्य रघुनाथ कर बेगि न जानइ कोइ। जो जानइ रघुपति कृपा सपनेहु मोह न होइ।'* (७। ११६) रहस्य विमल विवेकरूपी नेत्रोंसे देख पड़ता है। यथा—*'तेहि करि बिमल बिबेक बिलोचन। बरनौं रामचरित भवमोचन।'* (१। २) *'उघरहिं बिमल बिलोचन ही के।……सूझहिं रामचरित मनि मानिक। गुपुत प्रगट जहँ जो जेहि खानिक।'* (१। १) अतएव *'अति बिमल बिबेका'* विशेषण देकर जनाया कि आपको सब रहस्य देख पड़ते हैं। पुन: भाव कि साधक-सिद्ध-सुजान सिद्धाञ्जन लगाकर गुप्त वस्तु देखते हैं और भक्तलोग श्रीगुरुपदरजरूपी अञ्जन लगाकर विमल विलोचन पाकर गुप्त चरित्र देख लेते हैं; पर आप तो सहज ही अति निर्मल ज्ञानवान् हैं। आपको बिना किसी उपायके श्रीरामकृपासे सहज ही सब रहस्य साक्षात् देख पड़ते हैं। वै० सं० में शेष और महेशको विमल-विवेकी कहा है, यथा—*'को बरनै मुख एक तुलसी महिमा संत की। जिन्ह के बिमल बिबेक सेष महेस न कहि सकत॥'* (३४) यहाँ *'अति बिमल बिबेक'* कहकर उन्हें शेषसे भी श्रेष्ठ जनाया।

नोट—२ इस प्रश्नका उत्तर—(क) *'देखरावा मातहि निज अद्भुत रूप अखंड। रोम रोम प्रति लागे कोटि कोटि ब्रह्मंड॥'* (१। २०१) से *'यह जनि कतहुँ कहसि सुनु माई॥'* (२०२। ८) तक। (ख) *'मास दिवस कर दिवस भा मरम न जानइ कोइ। रथ समेत रबि थाकेउ निसा कवन बिधि होइ॥'* (१। १९५) *यह रहस्य काहू नहि जाना।'* (ग) *'निज निज रुख रामहि सबु देखा। कोउ न जान कछु मरमु बिसेषा॥'* (१। २४४। ७) (घ) *'जिन्ह के रही भावना जैसी। प्रभु मूरति तिन्ह देखी तैसी॥'* (१। २४१। ४)……।' (ङ) *'मुदित नारि नर देखहिं सोभा। रूप अनूप नयन मनु लोभा॥ एकटक सब सोहहिं चहुँ ओरा। रामचंद्र मुखचंद चकोरा॥'* (२। ११५। ४-५) (च) *'लछिमनहूँ यह मरमु न जाना। जो कछु चरित रचा भगवाना॥'* (३। २४। ४) इत्यादि।

प० प० प्र०—पहले आठ प्रश्नोंके कथनमें *'कहहु'* क्रिया-पद बार-बार आया है। इसका कारण यह है कि वे सब प्रश्न रामचरित-कथाके हैं। 'कथा' के साथ मानसमें करना या कहना या गाना क्रियाका ही प्रयोग मिलता है। जहाँ तात्त्विक सिद्धान्तोंकी चर्चा या कथनका सम्बन्ध है वहाँ कहना या करना क्रियाका प्रयोग न करके बखानना, वर्णन करना इत्यादि प्रयोग मिलते हैं। यह दोहा ४४ की टीकामें लिखा जा चुका है। वही नियम यहाँ भी चरितार्थ किया है; पर *'रहस्य'* के साथ *'कहहु'* कहा है। इसमें भाव यह है कि गूढ़ चरित कथाका *'रहस्य कहहु'*। यह भेद ध्यानमें रखनेसे मतभेदके लिये स्थान बहुत कम हो जाते हैं।

इन प्रश्नोंके उत्तर श्रीरामकथाके कथनमें प्रसंगानुकूल दिये हैं। प्रत्येक सोपानमें न्यूनाधिक प्रमाणसे

गूढ़ तत्त्वका बखान है, भक्ति-ज्ञान-विज्ञान-विरागादिका विवरण है, रामरहस्योंका उद्‌घाटन प्रसंगानुसार यत्र-तत्र किया है। उत्तरकाण्डमें विशेषरूपसे है।

वि० त्रि० *'रामरहस्य अनेका'* इति। जितनी भाँतिकी मायाएँ हैं उन सबोंमें रहस्य होता है। उस रहस्यके जाननेसे वह माया समझमें आ जाती है। सबसे प्रबल रामकी माया है। उस मायाका रहस्य ही रामका रहस्य है। उसके जाननेसे राममायाका पता चलता है, अतः उसके जाननेकी बड़ी आवश्यकता है, जिसके सामने महेशके उपदेशका बल नहीं चलता। वह माया भी एक प्रकारकी नहीं है। उमाका स्वयं अनुभूत विषय है। एक मायाने उन्हें मोहित किया था और दूसरीने अनेक ब्रह्माण्ड, ब्रह्मा, विष्णु और रुद्रसहित पलभरमें रचे। यह दो प्रकारकी माया तो उनकी स्वयं अनुभूति थी। अतः रहस्य भी कम-से-कम दो होने चाहिये, इसलिये *'रहस्य अनेका'* कहती हैं।

**जौं प्रभु मैं पूछा नहिं होई। सो दयाल राखहु जनि गोई॥ ४॥**
**तुम्ह त्रिभुवन गुर बेद बखाना। आन जीव पाँवर का जाना॥ ५॥**

अर्थ—हे प्रभो! जो बातें मैंने न भी पूछी हों, वह भी, हे दयालु! छिपा न रखियेगा॥ ४॥ वेदोंने आपको त्रैलोक्यका गुरु कहा है। अन्य जीव पामर (नीच) हैं वे क्या जानें?॥ ५॥

टिप्पणी—१ *'जौं प्रभु मैं पूछा नहिं होई।……'* इति। (क) ☞ श्रीपार्वतीजीके इस प्रश्नके कारण, उनके इस कथनसे, अब शिवजी अपना अनुभव भी कहेंगे, नहीं तो जितना उन्होंने पूछा था उतना ही कहते। (ख) *'दयाल'* सम्बोधनका भाव कि बिना जानी हुई बातका प्रश्न कोई कर ही न सकती थीं, जितनी बातें जानती थीं उतनीहीका प्रश्न किया है, क्या और पूछने योग्य बात है सो नहीं जानतीं। अतः *'दयाल'* कहकर जनाया कि दया करके और भी जो मैंने नहीं पूछा हो, मैं न जानती हूँ, वह भी कहिये। (ग) *'राखहु जनि गोई'* का भाव कि बहुत बातें गोपनीय हैं, उन गोपनीय बातोंको भी कृपा करके अपनी ओरसे कहिये। यह प्रश्न करनेकी चतुराई है। छिपानेवाली बातें पूछती हैं, इसीसे उपक्रम और उपसंहारमें प्रार्थना की है—*'गूढ़उ तत्व न साधु दुरावहिं'* तथा *'सोउ दयाल राखहु जनि गोई'*। पुनः, उपक्रम और उपसंहार दोनोंमें 'दया' करनेको कहा है—*'रघुपति कथा कहहु करि दाया'* और यहाँ *'सोउ दयाल……'*। दयाका सम्पुट देनेका भाव कि सबका उत्तर दया करके दीजिये। 'दया' मुख्य है। उपक्रममें पूछे हुए चरितोंको दया करके कहनेको कहा और उपसंहारमें बिना पूछे हुए चरितोंको दया करके कथन करनेकी प्रार्थना करती हैं। ☞ कौन बातें हैं जो पार्वतीजीने नहीं पूछीं और शिवजीने कहीं? उत्तर—अपनी चोरी अपना अनुभव। यथा—*'औरौ एक कहौं निज चोरी। सुनु गिरिजा अति दृढ़ मति तोरी॥ काकभुसुंडि संग हम दोऊ। मनुजरूप जानै नहिं कोऊ॥ परमानंद प्रेम सुख फूले। बीथिन्ह फिरहिं मगन मन भूले॥'* (१९६। ३—५) *'उमा कहउँ मैं अनुभव अपना। सत हरि भजनु जगत सब सपना॥'* (३। ३९। ५) इत्यादि।

प० प० प्र०—*'जौं प्रभु मैं पूछा नहिं होई……गोई'* इति। रमणीय भाव यह है कि जिन प्रश्नोंके पूछनेकी इच्छा है पर पूछना असम्भव-सा हो रहा है, उन प्रश्नोंका उत्तर भी गुप्त न रखियेगा। ऐसे प्रश्नोंमें मुख्य है 'सीतापरित्याग'। सतीदेहमें पार्वतीजी पतिपरित्याग-दुःखका अनुभव भरपूर कर चुकी हैं, इससे इस प्रश्नके लिये उनकी जिह्वा खुलती ही नहीं, अतः इस सम्बन्धका प्रश्न करना असम्भव हो गया। इस प्रश्नके उत्तरका संकेत *'दुइ सुत सुंदर सीता जाए।'* (७। २५। ६) में है, क्योंकि आगे *'दुइ दुइ सुत सब भ्रातन्ह केरे'* ऐसा कहा है। इस भेदमें ही सीतापरित्याग और परित्यक्त दशामें पुत्रजन्म सूचित किया है। श्रीसीता-भूमि-विवर-प्रवेश-विषयक ऐसा दूसरा प्रश्न है जो वे न कर सकीं। इसका उत्तर केवल दो-एक शब्दोंमें *'दोउ बिजयी बिनयी अति सुंदर'* इस चरणमें सूचित कर दिया है। *'बिजयी'* से रामाश्वमेध समयका विजय और *'बिनयी'* से दोनों पुत्रोंके यज्ञमण्डपमें श्रीसीताजी और श्रीवाल्मीकिजीके साथ आकर रामायण-गानकरके जो विनय दिखाया है उसकी ओर संकेत है। इसीके सम्बन्धसे भूमि-विवर-प्रवेश ज्ञात होता है। ऐसा ही तीसरा प्रश्न जिसके पूछनेका साहस न हुआ वह है 'लक्ष्मणजीका निर्याण',

इसका उत्तर *'एक बार बसिष्ठ मुनि आए। जहाँ राम सुखधाम सुहाए॥ अति आदर रघुनायक कीन्हा। पद पखारि पादोदक लीन्हा॥'* में गूढ़ ध्वनिद्वारा संकेत किया गया है। यहाँ पदप्रक्षालन-सेवा स्वयं रघुनाथजीने की है। (ठीक है। पर एकान्तमें मिलनेके कारण स्वयं करना उचित है। हनुमान्‌जी अथवा कोई भ्राता भी साथमें नहीं है। कोई भी साथ होता तो वसिष्ठजी न आ सकते थे। यह भी कहा जा सकता है।)

इन प्रसङ्गोंके स्पष्ट वर्णनके लिये जो कठिनता हृदयमें चाहिये वह गोस्वामीजीके कोमल हृदयमें नहीं है, अत: उनसे भी इन प्रसङ्गोंका स्पष्ट कथन न करते बना।

टिप्पणी—२ *'तुम्ह त्रिभुवन गुर बेद बखाना।……'* इति। (क) *'त्रिभुवन गुर'* का भाव कि आप सबके गुरु हैं, अत: कथा कहकर त्रैलोक्यवासियोंका उपकार करना आपका कर्त्तव्य है, सो कीजिये। (ख) *'पाँवर का जाना'* अर्थात् अपनेसे वे कुछ नहीं जान सकते, जो आप कहेंगे वही वे जानेंगे। भाव कि सब जीवोंको कृतार्थ कीजिये, सबोंपर कृपा करके सब पदार्थ प्रकट कर दीजिये। [पुन: *'आन जीव पावँर'* का भाव कि आप पामर जीवोंमें नहीं हैं, आपकी गणना तो ईश्वरकोटिमें है, कारण कि आप मोक्षाधिकारी हैं अर्थात् स्वयं जीवन्मुक्त रहते हुए दूसरोंको मुक्ति प्रदान करते हैं। (वे० भू०) (ग) उमाजीके प्रश्नोंका प्रकरण यहाँ समाप्त हुआ। *'बिस्वनाथ मम नाथ पुरारी। त्रिभुवन महिमा बिदित तुम्हारी॥'* (१०७। ७) उपक्रम है और *'तुम्ह त्रिभुवन गुर……'* उपसंहार है।]

प० प० प्र०—जबतक पति-पत्नी-भावसे प्रार्थना करती रहीं तबतक रामकथा कहनेका विचार शिवजीके मनमें नहीं आया। *'तुम्ह त्रिभुवन गुर'* कहनेसे अब गुरु-शिष्य-सम्बन्ध प्रस्थापित होनेपर कथाका उपक्रम करेंगे। (सब प्रश्न यहाँ समाप्त हो गये। अन्तमें इसपर समाप्त करके जनाया कि दूसरा कोई इनका यथार्थ उत्तर दे नहीं सकता। उपक्रममें 'विश्वनाथ' और त्रिभुवन' शब्द हैं, उपसंहारमें भी 'त्रिभुवन गुर' है। उनके चुप हो जानेपर उत्तरका आरम्भ हुआ।)

## उमा-प्रश्न-प्रकरण समाप्त हुआ।

# प्रश्नोत्तर-प्रकरणारम्भ

**प्रश्न उमा के* सहज सुहाई। छल बिहीन सुनि सिव मन भाई॥ ६॥**
**हर हिय रामचरित सब आए। प्रेम पुलक लोचन जल छाए॥ ७॥**

शब्दार्थ—आए=झलक पड़े, स्मरण हो आये।

अर्थ—श्रीपार्वतीजीके छलरहित सहज ही सुन्दर प्रश्न सुनकर शिवजीके मनको भाये॥ ६॥ हर (श्रीशिवजी) के हृदयमें सब रामचरित आ गये। प्रेमसे शरीर पुलकित हो गया और नेत्रोंमें जल भर गया॥ ७॥

टिप्पणी—१ *'प्रश्न उमा के……'* इति। गोस्वामीजी सर्वत्र 'प्रश्न' शब्दको स्त्रीलिङ्ग ही लिखते हैं। यथा *'प्रश्न उमा के सहज सुहाई'* (यहाँ), *'धन्य धन्य तव मति उरगारी। प्रस्न तुम्हारि मोहि अति प्यारी॥'* (७। ९५। २) इत्यादि। *'सहज सुहाई'* अर्थात् बनावटी नहीं; यथा—*'उमा प्रश्न तव सहज सुहाई॥'* (१। ११३) छलरहित होनेसे *'सुहाई'* कहा। अपना अज्ञान एवं जो बातें प्रथम सतीतनमें छिपाये रही थीं, यथा—*'मैं बन दीखि राम प्रभुताई। अति भय बिकल न तुम्हहि सुनाई॥'* वह सब अब कह दीं; इसीसे *'छल बिहीन'* कहा। यथा—*'रामु कहा सबु कौसिक पाहीं। सरल सुभाउ छुअत छल नाहीं॥'* (२३७। २) ईश्वरको छल नहीं भाता, यथा—*'निर्मल मन जन सो मोहि पावा। मोहि कपट छल छिद्र न भावा॥'* (५। ४४। ५) ये प्रश्न *'छल बिहीन'* हैं, अत: मनको भाये। (ख) प्रश्न 'सुहाये' और 'मन भाये' हैं यह आगे शिवजी स्वयं कहते हैं—*'उमा प्रस्न तव सहज सुहाई। सुखद संत संमत मोहि भाई॥'* (११४। ६)

* के—१७२१। के—१६६१, १७०४, १७६२। कर—छ०, को० रा०।

नोट—१ प्रश्न चार प्रकारके होते हैं—उत्तम, मध्यम, निकृष्ट और अधम। उत्तम प्रश्न छलरहित होते हैं, जैसे कि जिज्ञासु जिस बातको नहीं जानते उसकी जानकारीके लिये गुरुजनोंसे पूछते हैं, जिससे उनके मनकी भ्रान्ति दूर हो। फिर उन बातोंको समझकर वे उन्हें मनन करते हैं। यथा—'*एक बार प्रभु सुख आसीना। लछिमन बचन कहे छल हीना॥*' (३। १४। ५) मध्यम प्रश्न वह हैं जिनमें प्रश्नकर्त्ता वक्तापर अपनी विद्वत्ता भी प्रकट करना चाहता है, जिससे वक्ता एवं और भी जो वहाँ बैठे हों वे भी जान जायँ कि प्रश्नकर्त्ता भी कुछ जानता है, विद्वान् है। निकृष्ट प्रश्न वह हैं जो वक्ताको परीक्षाहेतु किये जाते हैं। और अधम प्रश्न वे हैं जो सत्सङ्ग-वार्तामें उपाधि करने, विघ्न डालनेके विचारसे किये जाते हैं।

पार्वतीजीके प्रश्न उत्तम हैं, क्योंकि वे अपना संशय, भ्रम, अज्ञान मिटानेके उद्देश्यसे किये गये हैं। यथा—'*जौं मोपर प्रसन्न सुखरासी। जानिय सत्य मोहि निज दासी॥ तौ प्रभु हरहु मोर अज्ञाना।*'......॥' (१०८। १-२)'*जेहि बिधि मोह मिटै सोइ करहू*' '*अजहूँ कछु संसउ मन मोरें। करहु कृपा बिनवौं कर जोरें॥*' (१०९। २, ५) इत्यादि।

नोट—२ कुछ महानुभावोंने इस विचारसे कि 'प्रश्न' शब्द पुँल्लिङ्ग है और '*सुहाई*' स्त्रीलिङ्ग, '*सुहाई*' और '*छल बिहीन*' को 'उमा' का विशेषण माना है; पर यह उनकी भूल है। ग्रन्थकारने इस शब्दको स्त्रीलिङ्गका ही माना है।

टिप्पणी—२'*हर हिय रामचरित सब आए।*......' इति। (क) पूर्व कहा था कि '*रचि महेस निज मानस राखा। पाइ सुसमउ सिवा सन भाषा॥*' (३५। ११) इससे स्पष्ट है कि सब रामचरित शिवजीके हृदयमें हैं; तब यहाँ यह कैसे कहा कि शिवजीके हृदयमें आये? इस शङ्काका समाधान यह है कि बात सब हृदयमें रहती है, पर स्मरण करानेसे उनकी स्मृति आ जाती है। मानसग्रन्थ हृदयमें रहा, पर पार्वतीजीके पूछनेसे वह सब स्मरण हो आया। यही भाव हृदयमें '*आए*' का है। यथा—'*सुनि तव प्रश्न सप्रेम सुहाई। बहुत जनम कै सुधि मोहि आई॥*' (७। ९५। ३) [भुशुण्डीजी सब जानते थे, पर गरुड़जीके प्रश्न करनेपर वे सब सामने उपस्थित-से हो गये, स्मरण हो आये। श्रीमद्भागवतमें इसी प्रकार जब वसुदेवजीने देवर्षि नारदजीसे अपने मोक्षके विषयमें उपदेश करनेकी प्रार्थना की; यथा—'**मुच्येम ह्यञ्जसैवाद्धा तथा नः शाधि सुव्रत॥**' (११।२।९) तब देवर्षि नारदजीने भी ऐसा ही कहा है, यथा—'**त्वया परमकल्याणः पुण्यश्रवणकीर्तनः। स्मारितो भगवानद्य देवो नारायणो मम॥**' (१३) अर्थात् आपने परमकल्याणस्वरूप भगवान् नारायणका मुझे स्मरण कराया जिनके गुणानुकीर्तन पवित्र हैं। वैसे ही यहाँ समझिये। पुनः जैसे पंसारीकी दूकानमें सब किराना रहता है, पर जब सौदा लेनेवाला आकर कोई एक, दो, चार वस्तु माँगता है तब उसके हृदयमें उस वस्तुका स्मरण हो आता है कि उसके पास वह वस्तु इतनी है और अमुक ठौर रखी है। इसी तरह जैसे-जैसे पार्वतीजीके प्रश्न होते गये वैसे-ही-वैसे उनके उत्तरके अनुकूल श्रीरामचरित चित्तमें स्मरण हो आये।] पुनः, हृदयमें '*आए*' का भाव कि सब प्रश्नोंके उत्तर मुखाग्र कहने हैं, सब चरित शिवजीको कण्ठ हैं, उनके हृदयसे ही निकलेंगे, पोथीसे नहीं। (ख) 'सब' अर्थात् जो चरित पूछे हैं एवं जो नहीं पूछे हैं वे भी। (ग) '*प्रेम पुलक*......' इति। चरित-स्मरण होनेसे प्रेम उत्पन्न हुआ; यथा—'*रघुबर भगति प्रेम परमिति सी॥*' (१। ३१। १४) उससे शरीर पुलकित हुआ क्योंकि शिवजीका श्रीरामचरितमें अत्यन्त प्रेम है; यथा—'*अतिथि पूज्य प्रियतम पुरारि के॥*' (१।३२।८) (घ) ['हर' शब्द देकर जनाया कि वे रामचरित कहकर उनका दुःख हरेंगे]।

**श्रीरघुनाथ रूप उर आवा। परमानंद अमित सुख पावा॥८॥**

अर्थ—श्रीरघुनाथजीका रूप हृदयमें आ गया। उन्हें परमानन्दका अमित सुख प्राप्त हुआ॥८॥

टिप्पणी—१ (क) *श्री*=शोभायुक्त। दूसरे चरणमें शोभाका आधिक्य दिखाते हैं। परमानन्दस्वरूप श्रीशिवजी भी शोभाको देखकर असीम सुखको प्राप्त हुए। (पं० रामकुमारजी 'परमानंद' शब्दको शिवजीमें लगाते

हैं।) (ख) प्रथम *'हर हिय रामचरित सब आए'* कहकर तब *'श्रीरघुनाथ रूप उर आवा'* कहनेका भाव कि जब रामचरित हृदयमें आता है तभी रामरूप हृदयमें आता है; यथा—*'रामकथा मंदाकिनी चित्रकूट चित चारु। तुलसी सुभग सनेह बन सिय रघुबीर बिहारु॥'* (१। ३१) श्रीरामचरित और श्रीरामरूप हृदयमें आये। रामचरित सुनाना है और श्रीरामरूपका भ्रम (जो पार्वतीजीको है उसे) दूर करना है, इसीसे ये दोनों हृदयमें आकर प्राप्त हुए। पुनः, रामचरित आनेपर तब श्रीरामरूप हृदयमें आया, क्योंकि रामचरितमें श्रीरामरूप कथित है, जब चरित कहा जाता है तब उसमें रामरूपका वर्णन होता है; अतः रामरूप पीछे आया। [नाम-स्मरणके प्रभावसे रूपका अनायास हृदयमें आना कहा गया है, यथा—*'सुमिरिअ नाम रूप बिनु देखें। आवत हृदयँ सनेह बिसेषें॥'* और यहाँ चरितसे हृदयमें रूपकी प्राप्ति कही। इस प्रकार रामनाम और रामचरितकी समानता दिखायी। प० प० प्र०]

नोट—१ प्रथम चरित आता है, उससे प्रेम उत्पन्न होता है और प्रेमसे रूपका साक्षात्कार होता है। ठीक यही दशा क्रमशः शिवजीकी हुई। यथा—*'हर हिय रामचरित सब आए', 'प्रेम पुलक लोचन जल छाए',* तब *'श्रीरघुनाथ रूप उर आवा।'* श्रीदशरथजी महाराजने श्रीजनकपुरसे आयी हुई पत्रिका जब पायी और उसमें श्रीरामजीके चरित पढ़े तब उनकी भी क्रमशः यही दशा हुई थी। यथा—*'बारि बिलोचन बाँचत पाती। पुलक गात आई भरि छाती॥ राम लखन उर कर बर चीठी।'* (१। २९०। ४-५) *'रामकथा मंदाकिनी'*। (१।३१) भी इसी भावका पोषक है।

नोट—२ बाबा हरिदासजी—'श्रीशिवजी अबतक कहाँ रहे जो गिरिजाजीके सुध करानेपर चरित और ध्यान उदय हुए?' (सम्भवतः उनकी शंका यह है कि उनका ध्यान अबतक कहाँ रहा?) समाधान 'जबसे सतीजीसे वियोग हुआ तबसे गिरिजा-समान श्रीरामकथाका श्रवणरसिक तथा श्रीशिवजीसे पूछनेवाला कोई और न मिला। अथवा, वे अबतक परात्पर निर्गुण ब्रह्मके ध्यानमें रहे, वही पिछला अभ्यास बना रहा, जब उमाजीने याद करायी तब उनके हृदयमें रामचरित और ध्यान उदय हुए।'

नोट—३ कोई-कोई 'श्रीरघुनाथ' से 'श्रीसीताजीसंयुक्त श्रीरामजी' का अर्थ करते हैं, जैसे—*'बसहु हृदय श्री अनुज समेता।'* (३। १३। १०) *'श्रीसहित दिनकरबंसभूषन काम बहु छबि सोहई।'* (७। १२) इत्यादिमें 'श्री' शब्द श्रीसीताजीके लिये आया है। परंतु आगे *'बंदौं बालरूप सोइ रामू।'* (११२। ३) कहा गया है, इससे यहाँ बालरूपका ही हृदयमें ध्यान होना निश्चित है। स्वामी प्रज्ञानानन्दजीका मत है कि यहाँ वही रूप अभिप्रेत है, जिसके दर्शन उन्हें पार्वतीजीसे विवाह करानेके लिये हुआ था।

प० प० प्र०—*'रूप उर आवा'* इति। पार्वती-विवाह-प्रकरणमें श्रीरामजीने जिस रूपमें प्रकट होकर दर्शन दिया था, उसे शिवजीने हृदयमें रख लिया था, पर दीर्घकालतक निर्गुण-निर्विकल्प-समाधि और पार्वती-विवाह तथा इसके पश्चात् दीर्घकालतक गिरिजारमण होकर शृङ्गार-लीला विहारके कारण वह सगुण-मूर्ति विस्मृत-सी हो गयी थी। अब चरित्र-स्मरणके प्रभावसे वही मूर्ति प्रकट हुई, ऐसा मानना ही पूर्व सन्दर्भ और वस्तुस्थितिके अनुरूप है। 'श्रीरघुनाथ' शब्दोंका भी उसी रूपसे सम्बन्ध है। *'प्रगटे राम कृतज्ञ कृपाला। रूप सीलनिधि तेज बिसाला।'* श्री='तेज बिसाला'। वही रूप हृदयमें आया क्योंकि यहाँ भी पार्वतीजी ही निमित्त बनी हैं।

नोट—४ *'परमानंद अमित सुख पावा'* इति। (क) उत्तरकाण्डमें श्रीभुशुण्डीजीके वचन हैं कि *'जेहि सुख लागि पुरारि असुभ बेष कृत सिव सुखद। अवधपुरी नर नारि तेहि सुख महुँ संतत मगन॥ सोई सुख लवलेस जिन्ह बारक सपनेहु लहेउ। ते नहिं गनहिं खगेस ब्रह्मसुखहिं सज्जन सुमति।'* (७। ८८) इन्हीं वचनोंकी अपेक्षासे इन्हींके अनुसार यहाँ *'अमित परमानंद सुख'* कहा। श्रीरामदर्शनका सुख ऐसा ही है; यथा—*'चितवहिं सादर रूप अनूपा। तृप्ति न मानहिं मनु सतरूपा॥ हरष बिबस तन दसा भुलानी।'* (१। १४८) *'जाहिं जहाँ जहँ बंधु दोउ तहँ तहँ परमानंद।'* (१। २२३) इत्यादि। (ख) *'अमित सुख'* का स्वरूप आगे दिखाते हैं—*'मगन ध्यानरस'*।

## दोहा—मगन ध्यान रस दंड जुग पुनि मन बाहेर कीन्ह।
## रघुपति चरित महेस तब हरषित बरनै लीन्ह॥१११॥

शब्दार्थ—दंड—'*दुइ दंड भरि ब्रह्मांड भीतर*······' (१। ८५) छंदमें देखिये।=घड़ी, साठ पल या चौबीस मिनटका काल। **रस**=वेग, आनन्द='**रसो ह्येवायं लब्ध्वाऽऽनन्दी भवति**' (तैत्ति० आनन्दवल्ली अनुवाक ७)। =किसी विषयका आनन्द; यथा—'*जो जो जेहि जेहि रस मगन तहँ सो मुदित मन मानि'।* =मनकी तरङ्ग। **ध्यान रस**=ध्यानजनित आनन्द; यथा—'*जाग न ध्यानजनित सुख पावा।*' (३। १०। १७)

अर्थ—श्रीमहादेवजी ध्यानके आनन्दमें दो दण्डतक मग्न रहे, फिर उन्होंने मनको बाहर किया और हर्षपूर्वक श्रीरघुनाथजीका चरित वर्णन करने लगे॥१११॥

टिप्पणी—१ (क) मन ध्यानरसमें मग्न हो गया, बाहर नहीं होना चाहता था; क्योंकि मूर्ति अत्यन्त मधुर है, मनोहर है। यथा—'*मूरति मधुर मनोहर देखी। भयउ बिदेहु बिदेहु बिसेषी॥*' (२१५। ८) '*मंजु मधुर मूरति उर आनी। भई सनेह सिथिल सब रानी॥*' (३३७। ५) इसीसे ध्यानको 'रस' कहा। चरित हृदयमें आये, श्रीरामरूप हृदयमें आया, दो दण्ड श्रीरामरूपमें मनको मग्न किये रह गये, फिर उसे ध्यानसे अलग किया। इसीसे '**कीन्ह**' पद दिया। (ख) '*बाहेर कीन्ह*' से सूचित करते हैं कि जबरदस्ती हठपूर्वक मनको ध्यानसे हटाया। (ग) '*परमानंद अमित सुख*' को छोड़कर मनको किसलिये बाहर किया?' इसका उत्तर यह है कि ध्यान करनेके लिये। इस समय बहुत कालका अवकाश नहीं है, हरिचरित वर्णन करना है, इसीसे हरिचरित वर्णन करनेमें मनको लीन किया। ☞ इसी तरह सभी भक्त चरित्रके लिये ध्यान छोड़ देते हैं। यथा—'*जीवनमुक्त ब्रह्मपर चरित सुनहिं तजि ध्यान।*' (७। ४२) (सनकादिकजी), '*राम लखनु उर कर बर चीठी। रहि गये कहत न खाटी मीठी॥ पुनि धरि धीर पत्रिका बाँची।*' (१। २९०) (श्रीदशरथजी) क्योंकि भक्तोंको भगवान्‌से भगवान्‌के चरित्र प्रिय हैं—'*प्रभु ते प्रभु चरित पियारे*' इति। (गीतावली) पुनः ऐसी मूर्तिका परम आनन्द छोड़कर कथा कहने लगे, यह कथाका माहात्म्य है। यहाँ कथाका यह महत्त्व दिखाकर कथाकी विशेषता दिखायी है। [और भी उत्तर ये हैं—(३) कदाचित् ध्यानमें समाधि लग जाय तो प्रश्नकर्ता बैठा ही रह जायगा। इस समय पार्वतीजी कथा सुननेको अति उत्कण्ठित हैं। (पं०) (४) ध्यानमें स्वार्थ था और चरितसे परमार्थ होगा, अर्थात् श्रीरामचरित कहनेसे तीनों लोकोंका उपकार होगा और ध्यानमें केवल अपनेहीको सुख है, यह जानकर ध्यान छोड़ा। (पं०) (५) ध्यानमें मग्न होकर श्रीरामचरित वर्णन करनेके निमित्त वृत्तिका उत्थान किया। ध्यान करनेका कारण यह है कि ध्यानके पश्चात् वचन मधुर और स्निग्ध होकर निकलते हैं। (पं०) (६) आनन्द, ध्यान और यश दोनोंमें तुल्य है। अतः कुछ काल ध्यान किया फिर यश कथन करने लगे। जैसे, कोई पेड़ा खाकर जलेबी खाय। (रा० प्र०) (७) सब कामोंके प्रारम्भमें ध्यान करना विधि है। अतएव ध्यान करके तब कथा आरम्भ की। (रा० प्र०) (८) ध्यान करनेका हेतु यह था कि प्रभुसे प्रार्थना करें कि वह शक्ति प्रदान करें, जिससे हमारे कथनसे इनका महामोह वा भ्रम दूर हो। (रा० प्र०) वा, (९) ध्यानमें प्रश्नोंपर विचार करते रहे जब विचार आ गये तब मनको बाहर किया। (रा० प्र०)] (१०) प्रश्न सुनते ही सब चरित्र हृदयमें आते ही वे गद्‌गद हो उनके आनन्दमें मग्न हो गये, परन्तु प्रश्नोंका उत्तर देना था, उस संस्कारसे फिर देहपर आ गये।

नोट—श्रीबैजनाथजी ध्यानरसका अर्थ 'शान्तरस' करते हैं। भाव यह कि 'शान्तरसमें डूबे रहे, फिर मन बाहर किया अर्थात् परमहंसी वृत्ति छोड़ सामान्य वृत्ति धारण की। यहाँ शान्तरसमें परमात्मा श्रीरामरूप आलम्बन और आत्मतत्त्व उद्दीपन हैं, इत्यादि।' इस भावमें 'रस'=वह आनन्दात्मक चित्तवृत्ति या अनुभव जो विभाव-अनुभाव और संचारीसे युक्त किसी स्थायीभावके व्यंजित होनेसे उत्पन्न होता है। 'पार्वतीजीका प्रश्न सत्सङ्गमूलक है, प्रेम-जल पाकर उससे रामचरित अंकुरित हुआ, जिसके चिन्तनसे इन्द्रियोंकी वृत्ति अहङ्कारमें, अहङ्कार चित्तमें और चित्त बुद्धिमें लीन हो गये। बुद्धि पाकर मन शुद्ध हो आत्मरूपमें, आत्मरूप श्रीरामरूपमें लीन हो गया।' (बै०)

टिप्पणी—२ *'हरषित बरनै लीन्ह'* इति। ☞ श्रीरामचरितका वर्णन महात्मालोग हर्षपूर्वक ही किया करते हैं। यथा *'कहत सुनत हरषहिं पुलकाहीं। ते सुकृती मन मुदित नहाहीं॥'* (१। ४१। ६) अब इनके उदाहरण सुनिये। चारों वक्ताओंकी हर्षपूर्वक प्रवृत्ति इसी ग्रन्थमें देख लीजिये। यथा—(क) *'भयेउ हृदय आनंद उछाहू। उमगेउ प्रेम प्रमोद प्रबाहू॥'* (१। ३९। १०) (श्रीगोस्वामीजी) (ख) *'सुनु मुनि आजु समागम तोरें। कहि न जाइ जस सुख मन मोरें॥ रामचरित अति अमित मुनीसा। कहि न सकहिं सतकोटि अहीसा॥ तदपि जथाश्रुत कहौं बखानी। सुमिरि गिरापति प्रभु धनुपानी॥'* (१। १०५) (श्रीयाज्ञवल्क्यजी) (ग) *'करि प्रनाम रामहि त्रिपुरारी। हरषि सुधासम गिरा उचारी॥'* (१। ११२। ५) (श्रीशिवजी) (ख) *'भयउ तासु मन परम उछाहा। लाग कहै रघुपति गुन गाहा॥'* (७। ६४। ६) (श्रीभुशुण्डीजी)

**झूठेउ सत्य जाहिं बिनु जानें। जिमि भुजंग बिनु रजु पहिचानें॥ १॥**
**जेहि जाने जग जाइ हेराई। जागे जथा सपन भ्रम जाई॥ २॥**

शब्दार्थ—भुजंग=सर्प। रजु (रज्जु)=रस्सी। **जाइ हेराई**=खो जाता है; अदृश्य हो जाता है; विस्मृत हो जाता है; नगण्य हो जाता है।

अर्थ—जिनको बिना जाने झूठा भी सत्य जान पड़ता है, जैसे रस्सीको बिना पहचाने (उसमें) साँप (का भ्रम हो जाता है)॥ १॥ जिसके जान लेनेपर संसार खो जाता है, जैसे जागनेपर स्वप्नका भ्रम जाता रहता है॥ २॥

नोट—१ यहाँसे लेकर *'करि प्रनाम रामहि त्रिपुरारी……॥'* (११२। ५) तक वस्तुनिर्देशात्मक तथा नमस्कारात्मक मङ्गलाचरण है।

वस्तुनिर्देशात्मक वह मङ्गलाचरण कहलाता है, जिसमें वक्ता सूत्ररूपसे वह समस्त कथा बीजरूपसे कह जाता है, जो वह वर्णन करना चाहता है। समस्त रामचरितमानसका तात्पर्य पार्वतीजीका मोह छुड़ाना है और वह रामरूपका ठीक ज्ञान करा देनेहीसे होगा। अत: यहाँ शिवजीने श्रीरामजीके ठीक रूपका ज्ञान करानेके हेतु ही यह चौपाई कही है। गोस्वामीजीके समस्त काव्यग्रन्थोंमें इस प्रणालीका निर्वाह बड़ी खूबीसे हुआ है, सैकड़ों उदाहरण उसके रामचरितमानसहीमें पाये जाते हैं। यथा—'**नीलाम्बुजश्यामलकोमलाङ्गं सीतासमारोपितवामभागम्। पाणौ महासायकचारुचापं नमामि रामं रघुवंशनाथम्॥**' *'गई बहोरि गरीब निवाजू॥'* इत्यादि। *'झूठेउ सत्य जाहिं बिनु जानें'* और *'जेहि जाने जग जाइ हेराई'* उपमेय वाक्य हैं और *'जिमि भुजंग बिनु रजु पहिचाने'* तथा *'जागे जथा सपन भ्रम जाई'* उपमान वाक्य हैं। दोनों वाक्योंमें *'जिमि'* और *'जथा'* वाचक पद देकर समता दिखायी है। अतएव इनमें 'उदाहरण' अलंकार है।

## 'झूठेउ सत्य……' इति।

### ( समन्वय-सिद्धान्तानुसार )

१—यद्यपि अद्वैतसिद्धान्तमें ही रज्जुसर्पके दृष्टान्तसे जगत्‌को मिथ्या कहना प्रचलित है तथापि श्रीमद्‌गोस्वामीजीने इन (रज्जु-सर्पादि) प्रचलित दृष्टान्तोंको समन्वय-सिद्धान्तमें भी सुगमताके साथ लगाया है, जिससे सभी दृष्टान्त समन्वय-सिद्धान्तमें लग जाते हैं और इसकी उपादेयता भी बढ़ जाती है।

मानसपीयूषके इस संस्करणके परिचयमें बताया जा चुका है कि श्रीमद्‌गोस्वामीजी भगवान् बोधायनाचार्यके समन्वय-सिद्धान्तके पूर्ण अनुयायी हैं। इस समन्वय-सिद्धान्तका विशिष्टाद्वैत-सिद्धान्त नाम पड़नेपर ही लोगोंमें परस्पर भेदभाव मालूम पड़ने लगा है, भगवान् श्रीरामानन्दाचार्यजीने अपने आचार-व्यवहारोंसे उस व्यापक सिद्धान्तसे जनसमुदायको अपनाया। उन्हींके शिष्य-प्रशिष्योंमें श्रीगोस्वामीजी हैं। अत: उनके रचित इस मानसमें भी उसी तरह व्यापक शब्दोंके प्रयोग भरे पड़े हैं, जिससे लोगोंको अद्वैतसिद्धान्त-प्रतिपादनकी ही भावना होती है।

समन्वय-सिद्धान्तमें 'झूठ, मृषा, मिथ्या, असत्य' का अर्थ महर्षि पतञ्जलिके '**विपर्ययो मिथ्याज्ञानमतद्रूपप्रतिष्ठम्**' इस सूत्रके अनुसार 'विपरीत वा अयथार्थ ज्ञानका विषय' है। अर्थात् जिस वस्तुका ठीक-ठीक ज्ञान हमें नहीं हुआ, जिसको हम कुछ-का-कुछ समझ रहे हैं।

'सत्यका अर्थ है 'यथार्थ ज्ञानका विषय' अर्थात् जिसको हम ठीक-ठीक जानते हैं।

समन्वयसिद्धान्तमें 'ब्रह्म' शब्दसे 'चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म' का ही ग्रहण होता है। अर्थात् चिदचिद् जगत् ब्रह्मका शरीर है और ब्रह्म इसका शरीरी अन्तर्यामी आत्मा है। तात्पर्य यह कि जो चराचर जगत् हमारे दृष्टिगोचर हो रहा है वह वस्तुतः 'चिदचिद्विशिष्ट ब्रह्म' ही है। परंतु हमने उस अन्तर्यामी ब्रह्मको उस रूपमें न जानकर केवल उसके एक अंश परिणामी जगत्को एकरस नित्य मान लिया (और उसीमें हम आसक्त हो गये), यही 'अयथार्थ ज्ञान' है और जगत् 'अयथार्थ ज्ञानका विषय' है, अतः 'झूठा' है। यदि हम अन्तर्यामी ब्रह्मको जगत्के शरीरीरूपमें जानते होते तो यह 'झूठा' न कहा जाता।

यहाँ कुछ लोग शंका करते हैं कि 'रज्जु-सर्पका दृष्टान्त अद्वैतसिद्धान्तमें ही ठीक बैठता है; क्योंकि जैसे केवल रज्जुमें उससे अत्यन्त भिन्न सर्पका भास होता है, वैसे ही केवल ब्रह्ममें जगत्का भास होता है और समन्वय-सिद्धान्तमें तो ब्रह्म सदा चिदचिद्विशिष्ट होनेसे जगत् सूक्ष्मावस्थामें भी उसमें वर्तमान है; रज्जुमें यदि सर्प होता तो यह दृष्टान्त ठीक होता?' यह भी प्रश्न होता है कि 'रज्जुमें सर्पकी कौन सत्ता विद्यमान है जिससे सर्पका भ्रम हो जाता है; क्योंकि रज्जु और सर्पके लिये तो पञ्चीकरण-प्रक्रियाका भी संघट्ट नहीं हो सकता?'

उसके समाधानके लिये हमें प्रथम सिद्धान्त जान लेना चाहिये कि समन्वय-सिद्धान्तमें दार्शनिकोंने 'आकृति' को भी शब्दोंका वाच्य माना है। उसीको 'जाति' आदि शब्दोंसे भी व्यवहार किया जाता है। इसीसे रज्जु, जलरेखा तथा भूदलनादिमें ही सर्पकी भ्रान्ति होती है, अन्यत्र नहीं; क्योंकि अन्यत्र आकृति भी नहीं पायी जाती।

अवयवरचना-विशेषको जाति माना जाता है। गौकी आकृतिविशेषको ही गोत्व जाति कहते हैं। वह आकृति जहाँ भी होगी, उसको गौ माना जायगा। इस सिद्धान्तानुसार सर्पका लम्बापन, वर्तुलाकार आदि कुछ आकार-विशेष रज्जुमें होनेसे रज्जुमें सर्प भी वर्तमान है। 'जैसे ब्रह्मके साथ जगत् भी है, वैसे ही रज्जुके साथ सर्प भी है। अतः दृष्टान्तमें कोई वैषम्य नहीं आता।

इसपर शङ्का हो सकती है कि 'जब रज्जुमें नित्य सर्प है ही तब जो लोग व्यवहारमें यह कहते हैं कि 'यह रज्जु है', 'यह सर्प है' इसकी व्यवस्था किस प्रकार होगी?' इसका समाधान यह है कि रस्सीमें रस्सीके अवयव बहुत हैं और सर्पके अवयव कम हैं। अतः रस्सीमें रस्सीके अवयव-विशेष होनेसे उसे रस्सी कहा जाता है। परंतु जब अन्धकारादि दोषरूप प्रतिबन्धकोंसे उसके अवयव आच्छादित हो जाते हैं तब उसमें स्थित सर्पके जो अवयव हैं, वे अनुभवमें आते हैं; इसीसे उसमें सर्पका भास होता है। जब प्रकाश आदिसे अन्धकारादि दोषरूप प्रतिबन्धकोंका नाश हो जानेपर रज्जुके अवयव अनुभवमें आते हैं तब रज्जुका ज्ञान होनेसे सर्पका अनुभव नहीं होता।

इस प्रकार रज्जुमें कुछ अंशोंमें सर्पकी स्थिति होनेपर वह अव्यवहारी अर्थात् व्यवहार करनेमें अयोग्य है; अतः उसको सर्प नहीं कहा जाता। पुनः 'झूठा' का अर्थ 'परिणामी' अर्थात् 'परिवर्तनशील' और 'सत्य' का अर्थ 'अपरिणामी' अर्थात् 'स्थिर' भी ले सकते हैं। परमात्माको न जाननेसे जीव इस परिवर्तनशील जगत्को स्थिर समझकर उसमें फँसता है। अतः इन चौपाइयोंसे भ्रमकी निवृत्ति की गयी है। (व्या० न्या० मीमांसा वेदान्ताचार्य सार्वभौम वासुदेवाचार्यजी)

२—बाबा जयरामदासजी—'**झूठेउ सत्य**……' इति। जैसे—'**यत्सत्त्वादमृषैव भाति सकलम्**' में कुछ लोगोंका कहना है कि गोस्वामीजीने जगत्को मिथ्या माना है, वैसे ही यहाँपर उनके मतानुसार जगत्-प्रपञ्चको झूठा

कहा गया है। परंतु यहाँपर भी पूर्व ( **रज्जौ यथाऽहेर्भ्रमः** ) की तरह सर्प और रस्सीकी उपमा है। अतएव यहाँ भी उसी प्रकार प्रकट जगत्के नानात्वका सत्य भासना मृषा है, न कि जगत् ।* इसके बादकी चौपाइयाँ स्पष्ट बतला रही हैं कि जगत् रागरूपमें यथार्थ भासता है तब इसका नानारूप प्रतीत होना खो जाता है, यथा—***'जेहि जाने जग जाइ हेराई।'''''''*** तथा—***'बंदउँ बालरूप सोइ रामू'''''''।'*** तात्पर्य यह कि जिस रूपमें जगत्को हम देख रहे हैं वह सत्य नहीं है; इसका रूप राममय है। अत: इस जगत्का नानाकार झूठा है; न कि जगत् ही झूठा है; जगत् तो रामरूप आकारमें सत्य है, क्योंकि जब हमको जगत् निजप्रभु-राम-मय जान पड़ता है तब इसका नानात्व उसी प्रकार गायब हो जाता है जिस प्रकार जागनेपर स्वप्नका भ्रम नष्ट हो जाता है। स्वप्नका भ्रम क्या है—***'सपनें होइ भिखारि नृपु रंक नाकपति होइ'*** अर्थात् 'कोई राजा स्वप्नमें अपनेको भिक्षुक रूपमें जानता या देखता है अथवा कोई भिक्षुक अपनेको इन्द्ररूपमें देखता है'। परंतु स्वप्नमें राजाका भिक्षुक होना तथा भिक्षुकका इन्द्र होना मिथ्या था, न कि संसारमें भिक्षुकका होना और स्वर्गमें इन्द्रका होना। ये दोनो बातें सत्य ही हैं, केवल स्वप्नमें उन व्यक्तियोंका अपने लिये ऐसा परिवर्तन देखना झूठा था। इसी प्रकार जगत्को झूठा न कहकर उसमें जो नानात्व भासता है, उसे ही झूठा कहा गया है। साथ ही जगत् जिस रामका रूप है, उसकी वन्दना की गयी है और नाम-जप (उपासना) की बात कही गयी है, जो अद्वैतवादके विरुद्ध है। (मानसरहस्य)

वेदान्तभूषणजी—***'झूठेउ सत्य जाहि बिनु जानें। जिमि भुजंग बिनु रजु पहिचानें॥ जेहि जाने जग जाइ हेराई। जागे जथा सपन भ्रम जाई॥'*** इति। जैसे यहाँ श्रीशिवजी मङ्गलाचरण करते हुए जगत् और श्रीरामजीमें परस्पर स्वभाव तथा स्वरूप-भेद बतलानेके लिये रज्जु और भुजङ्गका दृष्टान्त देते हैं वैसे ही श्रीगोस्वामीजीने भी अपने मङ्गलाचरणमें '**यत्सत्त्वादमृषैव भाति सकलं रज्जौ यथाऽहेर्भ्रमः**' से यही बात कही है। इन प्रकरणोंमें जगत्के मिथ्यात्वका तात्पर्य नहीं है क्योंकि जो पदार्थ नित्य तथा भगवदाश्रित रहते हैं वे कभी मिथ्या हो ही नहीं सकते; कारण कि भगवान् भी मिथ्या नहीं हैं। जगत् नित्य और हरि-आश्रित है, यथा—***'बिधि***

* 'यत्सत्त्वादमृषैव भाति सकलम्' में जगत्को मिथ्या मानना अद्वैतवाद कहा जाता है। बाबा जयरामदास 'दीन' जी लिखते हैं कि अद्वैतवादके निरासमें यहाँ पहले तो 'यत्सत्त्वात्' जिस प्रभुकी सत्तासे ऐसा हो रहा है—'नाथ जीव तव माया मोहा'। फिर श्लोकके प्रथम और अद्वैतवादके विरोधी तीसरे चरणपर ध्यान देना चाहिये। यह 'यत्' कौन है यह चौथे चरणमें बताकर उनको प्रणाम किया गया है। 'यन्माया''''''' से उन्हें कर्मयोगका अधीश्वर, 'यत्सत्त्वात्''''''' से ज्ञानका आधार और 'यत्पादप्लव''''''' से उन्हें उपासनाका आधेय बताया गया है। अन्तिम चरणमें उन्हींको 'अशेषकारणपरम्' बताया है। इससे अवतारवाद और सेव्यभाव स्पष्ट सिद्ध होता है।

अब रहा यह प्रश्न कि जगत् मृषा कितने अंशमें मालूम होता है। इसका निर्णय दी हुई उपमासे ही कीजिये। रस्सीको साँप मानना मिथ्या है, न कि रस्सी और साँप ये दोनों मिथ्या हैं, क्योंकि यदि साँपका अस्तित्व ही न होता तो उसका भ्रम ही कहाँसे आता? इसी प्रकार यह जगत् कारणरूपसे सत्य और कार्यरूपमें मृषा है, इसीसे हमें रामरूप जगत्में नानारूप जगत्की भ्रान्ति हो रही है। अर्थात् है तो यह जगत् (स्थावर-जंगम) श्रीरामरूप—'अग जग रूप भूप सीताबर' (वि० प०), परन्तु हमलोगोंको प्रभुकी ही मायाके आवरणके कारण नानारूपमें भास रहा है। जैसे रस्सी यथार्थमें है, वैसे ही यह समस्त जगत् रामरूपमें यथार्थ है—'सीयराममय सब जग जानी', 'निज प्रभुमय देखहिं जगत', 'मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत'।

जिस तरह रज्जुमें सर्पका भ्रम मिथ्या है, उसी तरह इस रामरूप जगत्में गृह, वृक्ष, पर्वत, सरिता, पशु, पक्षी, पुत्र, कलत्र आदि नानात्वका भासना झूठा है। (मानसरहस्य) परंतु सर्प किसी समय देखा सुना हुआ है, सर्पका होना मिथ्या नहीं है। 'नानारूप जगत्का विशेषण या शरीररूपमें सत्य देखा गया है परंतु जगत्का विशेष्य या स्वतन्त्ररूपसे देखना ही झूठा है, मिथ्या है।—(मा० पी० सं०) अत: यह विधिप्रपंच भी कारणरूपसे नित्य और अनादि है। यथा—'बिधि प्रपंच अस अचल अनादी।', 'प्रकृतिं पुरुषं चैव विद्ध्यनादी उभावपि।' (गीता १३। १९) अतएव जगत्को सर्वथा मिथ्या नहीं कहा गया है, किंतु इस प्रकट जगत्की नानारूपमें सत्यता प्रतीत होना मिथ्या माना गया है।

*प्रपंच अस अचल अनादी'* और *'एहि बिधि जग हरि आश्रित रहई'* इत्यादि। इसीसे यहाँ मिथ्या न कहकर भ्रम कहा गया है। 'भ्रम' का अर्थ है 'औरका और समझ पड़ना' जैसे कि भूदलन, जलरेख और रज्जुका सर्प आदि। वैसे ही भ्रममें पड़कर अस्वतन्त्र जगत्‌को स्वतन्त्र मान लेना झूठा है, इसीसे 'भ्रम' कहा। *'जग जाइ हेराई'* कहकर केवल अदृश्य होना कहा, मिथ्या नहीं। क्योंकि जगत् तो सदैव सृष्टिक्रमानुसार बना ही रहता है, केवल जिस भाग्यभाजन जीवपर परमात्माकी निर्हेतुकी कृपा हो जाती है वह मुक्त हो जाता है और त्रिपादविभूति श्रीसाकेतमें जानेपर वह ब्रह्मके सहित सम्पूर्ण कामनाओंको भोगते हुए आप्तकाम हो जाता है, यथा—'**यो वेद निहितं गुहायाम्। सोऽश्नुते सर्वान् कामान् सह ब्रह्मणा विपश्चिता**' (तैत्ति आ० १। १)

पं० रामकुमारजी—१ *'झूठेउ सत्य जाहि बिनु जानें।……'* इति। ☞यहाँ झूठ जगत्‌के लिये और *'जाहि'* आगेका *'जेहि'* श्रीरामचन्द्रजीके लिये आया। जगत्‌का ग्रहण *'जेहि जाने जग जाइ हेराई'* से और 'राम' का ग्रहण *'बंदौं बालरूप सोइ रामू'* इन अगले चरणोंसे हुआ। ☞ यह भी स्मरण रहे कि यहाँ दृष्टान्त एकदेशीय है, सर्वदेशीय नहीं, केवल सत्य और असत्य दिखलानेके लिये दृष्टान्त दिया गया है। इतना मात्र दिखलानेके लिये, कि बिना रामजीको जाने जगत् सत्य प्रतीत होता है और उनको जाननेपर वही असत्य है, दृष्टान्त दिया गया है। यहाँ झूठा जगत् सर्प है और श्रीरामजी रज्जु हैं। दृष्टान्तके इस अंशसे यहाँ कविको प्रयोजन नहीं है कि 'रस्सी जड़ है और सर्प चैतन्य है, ऐसे ही रामजी जड़ हैं और जगत् चैतन्य'। इस देशमें दृष्टान्त नहीं दिया गया है। यहाँ कविने दो दृष्टान्त दिये, एक जाननेमें, दूसरा न जाननेमें, अर्थात् श्रीरामजीको न जाननेसे जगत् सत्य है और जाननेसे असत्य।

२ (क) *'झूठेउ'।* जगत् झूठा है, यथा—*'झूठो है झूठो है झूठो सदा जगु संत कहंत जे अंतु लहा है।* (क०) (ख) यहाँ रज्जु रामजी हैं और जगत् भुजंग (सर्प) है, यथा—'**मां पाहि संसार भुजंग दष्टं०।**' (ग) जगत्‌को भुजङ्गकी उपमा देनेमें भाव यह है कि जगत्‌का वास्तविक रूप न जाननेसे वह सर्पकी तरह चैतन्य तथा भयदायक है; यथा—*'बूड़ेउ मृगबारि खायेउ जेवरी के साँप रे'* (वि० ७४) [नोट—पण्डितजीका आशय यह जान पड़ता है कि *'झूठेउ सत्य……'* इस चौपाईमें जो रज्जु-सर्पका दृष्टान्त दिया गया है, उसमें केवल *'अन्यथा ज्ञान'* अर्थात् भ्रम ही दर्शित किया गया हो यह बात नहीं है, किंतु जैसे रज्जु वस्तुतः हितकारक ही है, बाधक नहीं है, परंतु उसका ज्ञान न होनेसे उसमें अहितकारक और बाधक सर्पका भास होता है, वैसे ही श्रीरामजी सबके हितकारक और अनुकूल हैं, परंतु उनको न जाननेसे उनमें दुःखदायी एवं प्रतिकूल संसारका अनुभव होता है।] (घ) *'जिमि भुजंग बिनु रजु पहिचाने'* इति। भाव कि जैसे रज्जुमें सर्प भ्रम है, वैसे ही श्रीरामजीमें जगत् भ्रम है। जिनकी दृष्टिमें रज्जु है उनकी दृष्टिमें (वहाँ) सर्प नहीं है और जिनकी दृष्टिमें सर्प है, उनकी दृष्टिमें (वहाँ) रज्जु नहीं है। इसी प्रकार जिनकी दृष्टिमें श्रीरामजी हैं, उनकी दृष्टिमें जगत् (स्वतन्त्रात्मक) नहीं है और जिनकी दृष्टिमें जगत् है, उनकी दृष्टिमें रामजी नहीं हैं। एक ही वस्तुमें रज्जु और सर्प (के भाव) चित्तमें एक संग नहीं रहते।

बैजनाथजी—१ श्रीपार्वतीजीके मनमें श्रीरामरूपकी सत्यतामें भ्रम है; इसीलिये श्रीशिवजी कहते हैं कि 'हे प्रिये! इसमें कुछ तुम्हारा दोष नहीं है, संसारमें स्वाभाविक यही रीति है कि जिसी पदार्थको विचारो उसीको बिना यथार्थ जाने झूठ भी सत्य ही देख पड़ता है।'

२ श्रीरामजीको जान लेना चाहिये, क्योंकि जान लेनेसे जगत् ही हेराय जाता है, जैसे स्वप्नमें किसीने देखा कि मैं लुट गया; अथवा किसीने देखा कि मुझे द्रव्य मिल गया, जागनेपर दोनोंके भ्रम मिट गये। वैसे ही संसार भ्रमरूप है। जैसे हण्डीमें गिलास और गिलासमें दीपशिखा है पर सब यही कहते हैं कि हण्डीका प्रकाश है कोई यह नहीं कहता कि दीपशिखाका प्रकाश है। इसी प्रकार प्रकृति, बुद्धि, अहंकार, पञ्चभूतमय जगरचनामें भगवत्-रूपकी चैतन्यता है, पर लोग ऐसा न मानकर

देहव्यवहारहीको सत्य माने हैं। यथा—राजा-प्रजा, ब्राह्मण-शूद्र, पिता-पुत्र इत्यादि भ्रमरूप संसारकी सत्यता तभीतक है जबतक रामरूपको नहीं पहचाना, जब रामरूपकी पहचान हुई तब लोकसत्यता हेराय गयी। भाव कि वैर त्यागकर सबमें समदृष्टिसे भगवान्‌को व्याप्त देखने लगता है।

पं० श्रीकान्तशरण—श्रीरामजीको जानना जागना है। जाननेपर सम्पूर्ण जगत्‌का बोध श्रीरामजीके शरीररूपमें हो जाता है, तब उस (जगत्) के प्रेरक नियामक श्रीरामजी जाने जाते हैं और जगत्‌की भ्रमात्मक नानात्व सत्ता नहीं रह जाती, यही जगत्‌का 'हेराय' (खो) जाना है जैसे स्वप्नकी मन:कल्पित सृष्टि जागनेपर नहीं रह जाती, वैसे ही जगत्‌का नानात्वरूप भी मनसे कल्पित है, यथा—*'जौं निज मन परिहर बिकारा। तौ कत द्वैतजनित संसृति दुख संसय सोक अपारा॥ सत्रु मित्र मध्यस्थ तीनि ये मन कीन्हें बरिआईं। त्यागब गहब उपेछनीय अहि हाटक तृनकी नाईं॥'* (वि० १२४) अर्थात् जगत् श्रीरामजीका शरीर है, यथा—**'जगत्सर्वं शरीरं ते'**। (वाल्मी० ६। ११७। २७) ऐसा ज्ञान होनेपर फिर कोई शत्रु-मित्र आदि नहीं रह जाते। अत: हित करनेवाले माता, पिता आदिको मित्र और अनहित करनेवालेको शत्रु आदिकी भावना मनकी भ्रमात्मक कल्पना है। यही नानात्वदृष्टि *'सुत बित देह गेह स्नेह'* रूप जगत्‌के नामसे प्रसिद्ध है। इस नानात्वका दशदिगात्मक रूप—*'जननी जनक बंधु सुत दारा। तनु धन भवन सुहृद परिवारा॥ सबकै ममता ताग बटोरी……'* है।

## * अद्वैत मतके अनुसार भाव *

*'झूठेउ सत्य जाहि बिनु जानें।……'* इति। प्रथम मङ्गलाचरण श्लोक ६ में **'यत्सत्त्वादमृषैव भाति सकलम्'** अर्थात् जिनकी सत्तासे सकल (संसार) सत्य भासता है ऐसा कहा है। परंतु वहाँ यों भी अर्थ हो सकता है कि सत्य जगत् जिनकी सत्तासे भासता है, अत: ग्रन्थकार इस उद्धरणका अपना अभीष्ट अर्थ स्पष्ट करते हैं कि जगत् झूठा है परंतु सत्य भासता है। सम्भवत: इसी अभिप्रायसे कविने वहाँका रज्जु-सर्पका दृष्टान्त ही यहाँ दिया है।

वहाँ केवल यही कहा कि ब्रह्मकी सत्तासे जगत्‌का भास होता है, परंतु यह नहीं बताया था कि वह विपरीत भास अर्थात् भ्रम क्यों होता है और उसकी निवृत्ति कैसे होगी। वह यहाँ कहते हैं कि ब्रह्मके न जाननेसे झूठा जगत् सत्य-सा भासता है तथा जाननेसे उसकी निवृत्ति होती है। अर्थात् जगत्‌का अनुभव तो जैसा ब्रह्मज्ञानके पहले था वैसा ही रहेगा, परंतु ज्ञानके पूर्व वह उसे सत्य समझता था, अत: प्रियाप्रिय भावसे सुख, दु:ख, हर्ष, विषाद आदि पाता था, अब ज्ञान होनेसे उसके सत्यत्वबुद्धिका नाश हो गया अत: अब वह सुख-दु:ख नहीं पाता।

यहाँपर यह सब विषय कहनेका तात्पर्य है कि शिवजी पार्वतीजीसे कहते हैं कि यद्यपि तुमने केवल श्रीरामजीके स्वरूपको नहीं जाना अत: उसके जाननेके लिये यह प्रश्न किया है, तथापि इसके साथ और भी बात यह है कि श्रीरामजीको न जाननेसे प्रपञ्च दु:खदायी भासता है और उनको जाननेसे उस दु:खकी निवृत्ति होती है।

इसी प्रकार हमलोगोंको भी यह समझना चाहिये कि यदि हमें श्रीरामजीके विषयमें कोई शङ्का न भी हो तो भी इस प्रापञ्चिक दु:खसे छूटनेके लिये श्रीरामजीका स्वरूप जानना आवश्यक है और स्वरूपके ज्ञानके लिये चरित जाननेकी आवश्यकता है। नादबिन्दूपनिषद्‌में कहा है कि जैसे रज्जुका त्याग करके अर्थात् रज्जुको न जानकर भ्रमसे कोई सर्पका ग्रहण करता है अर्थात् उसे सर्प समझता है, वैसे ही मूढ़ बुद्धि जीव सत्य ब्रह्मस्वरूपको न जानकर जगत्‌को देखता है। जब वह रज्जुके टुकड़ेको जान जाता है तब सर्परूप नहीं रहता, वैसे ही अधिष्ठान ब्रह्मको जाननेपर यह सब प्रपञ्चशून्य हो जाता है। यथा—**'यथा रज्जुं परित्यज्य सर्पं गृह्णाति वै भ्रमात्॥ तद्वत् सत्यमविज्ञाय जगत् पश्यति मूढधी:। रज्जुखण्डे परिज्ञाते सर्परूपं न तिष्ठति॥'** (२६-२७), **अधिष्ठाने तथा ज्ञाते प्रपञ्चे शून्यतां गते'।'** श्रीमद्भागवतमें भी दशमस्कन्धमें ब्रह्माजी स्तुति करते हुए कहते हैं कि रज्जुके अज्ञानसे उसमें सर्पशरीरकी

उत्पत्ति अर्थात् अनुभूति होती है और रज्जुके ज्ञानसे उस सर्पकी निवृत्ति होती है, वैसे ही आत्माका स्वरूप न जाननेसे यह सकल प्रपञ्च भासता है और आत्माके ज्ञानसे विलीन होता है। यथा—**'आत्मानमेवात्मतया विजानतां तेनैव जातं निखिलं प्रपञ्चितम्। ज्ञानेन भूयोऽपि च तत्प्रलीयते रज्ज्वामहेर्भोग-भवाभवौ यथा॥'** (१०। १४। २५)

यद्यपि उपर्युक्त दोनों स्थलोंमें जगत् तथा रज्जु सर्पको स्पष्ट शब्दोंसे मिथ्या नहीं कहा है तथापि वह बात अर्थात् सिद्ध है कि जो अज्ञानसे भासता है और ज्ञानसे नष्ट होता है वह मिथ्या (भ्रम) ही है। अन्यत्र स्पष्ट शब्दोंमें मिथ्यात्व कहा भी गया है। यथा—**'वेदः शास्त्रं पुराणं च कार्यं कारणमीश्वरः। लोको भूतं जनस्त्वैक्यं सर्वं मिथ्या न संशयः॥'** (४३) (तेजोबिन्दूप०) अर्थात् वेद, शास्त्र, पुराण, कार्य, कारण, ईश्वर, तीनों लोक, पञ्चभूत और प्राणी इत्यादि सब मिथ्या हैं, इसमें संशय नहीं। भागवत दशमस्कन्धकी ब्रह्मस्तुतिमें **'ये ते तरन्तीव भवानृताम्बुधिम्।'** (१।१४।२४) इस प्रकार संसारको मिथ्या समुद्र कहा है। अध्यात्मरामायणमें भी **'असर्पभूतेऽहिविभावनं यथा रज्ज्वादिके तद्वदपीश्वरे जगत्।'** (७। ५। ३७) ऐसा कहा है। अर्थात् रज्जु आदि जो सर्प नहीं हैं, उनमें सर्पकी भावना जैसे होती है वैसे ही ईश्वरमें जगत्की भावना होती है।

तेजोबिन्दूपनिषद्के वाक्योंसे यह शङ्का उपस्थित होती है कि 'जब वेद-शास्त्र-पुराण आदि सभी मिथ्या हैं तब दुराचरण आदिसे न तो कोई रोकनेवाला रह गया और न कोई रोकनेकी आवश्यकता ही रह गयी। इस प्रकार आचार-विचार सभीका लोप हो जायगा जो परिणाममें अहितकर है?' समाधान यह है कि जबतक जीवको किञ्चित् भी देहाभिमान है तबतक उसको वेद-शास्त्र-पुराण आदि सब जगत् सत्य ही है और उसको वेदशास्त्रानुसार चलना ही चाहिये। आत्मज्ञानोत्तर जब वह ब्रह्ममें लीन रहेगा तब उसके लिये ये सब कथन सत्य हैं क्योंकि उस समय संसार सत्य हो वा झूठ, उसके लिये दोनों बराबर हैं। (ब्रह्मचारीजी)

वि० त्रि०—झूठ और सत्यका विभाग बुद्धिके अधीन है। जिस पदार्थको विषय करनेवाली बुद्धिका नाश नहीं होता वह पदार्थ सत्य है और जिसको विषय करनेवाली बुद्धि नष्ट हो जाती है वह झूठ है। झूठविषयक बुद्धि तभीतक बनी रहती है जबतक सत्यका ज्ञान न हो। सत्यका ज्ञान होते ही झूठविषयक बुद्धिका नाश हो जाता है, जैसे जबतक रज्जुका ज्ञान नहीं होता तबतक सर्पविषयक बुद्धि बनी रहती है, रज्जुका ज्ञान होते ही सर्पविषयक बुद्धिका नाश हो जाता है। अतः रज्जु सत्य है और उसमें भासित होनेवाला सर्प झूठ है। इसी न्यायसे संसारका मिथ्यात्व सिद्ध करते हैं कि ब्रह्मके ज्ञानसे संसार खो जाता है; अर्थात् संसारको विषय करनेवाली बुद्धि नष्ट हो जाती है। जैसे जागनेसे स्वप्नको विषय करनेवाली बुद्धिका नाश हो जाता है इससे सिद्ध होता है कि ब्रह्म सत्य है और जगत् मिथ्या है।

### * जेहि जाने जग जाइ हेराई……।'*

पं० रामकुमारजी—(क) श्रीरामजीको जानना जागना है। जगत् स्वप्न-भ्रम है। स्वप्नमें अनेक भ्रम होते हैं, यथा—*'सपने होइ भिखारि नृप रंक नाकपति होइ', 'जौं सपने सिर काटै कोई।……'* इत्यादि। इसीसे 'सपन-भ्रम' कहा; एक भ्रम न कहा। जैसे जागनेसे स्वप्न-भ्रम जाता रहता है, वैसे ही श्रीरामजीको जाननेसे जगत् जाता रहता है। भाव कि जब श्रीरामजी ही शरीरी-शरीररूपसे व्यापक-व्याप्य हैं; यथा—*'बिस्वरूप ब्यापक रघुराई।'* भगवान् ही विश्वरूप हैं—*'बिस्वरूप रघुबंस मनि करहु बचन बिस्वास। लोक कल्पना बेद कर अंग अंग प्रति जासु॥'* (लं० १४) पुनः यथा—**खं वायुमग्निं सलिलं महीं च ज्योतींषि सत्त्वानि दिशो द्रुमादीन्। सरित्समुद्रांश्च हरेः शरीरं यत्किञ्च भूतं प्रणमेदनन्यः॥'** (भा० ११। २। ४१) जब यह समझ पड़ता है तब जगत् कहाँ रह जाता है? कहीं भी तो नहीं—*'मैं सेवक सचराचर रूप स्वामि भगवंत।'* बस जगत् इस भाँति दीखने लगता है।—यह भाव *'जग जाइ हेराई'* का है। पुनः, (ख) जगत् बिना जाने अज्ञानतासे है, ज्ञान होनेपर जगत् नहीं है। जगत् स्वप्नरूप है, यथा—*उमा कहउँ मैं अनुभव अपना।*

*सत हरि भजन जगत सब सपना॥'* श्रीरामजीको जाने बिना जगत् सर्पकी नाईं दुःखदाता है, अर्थात् जन्म-मरण बना ही रहता है और रामजीको जान लेनेसे वही दुःखद जगत् रामरूपमय होकर सुखदायक हो जाता है—*'निज प्रभुमय देखहिं जगत केहि सन करहिं बिरोध।'* (७। ११२)

नोट—१ सर्प भयदायक है, डँस लेता है। रस्सी निर्भय और सुखदायक है, जल भरनेके काम आती है, इत्यादि। इसी प्रकार जगत् और श्रीरामजी हैं। अर्थात् जगत्-व्यवहार सत्य मान लेनेसे, उसमें आसक्त होनेसे जन्म-मरण होता है; यही सर्पका डँसना है। और उसे श्रीराममय जान लेनेसे, श्रीरामजीको उसका प्रकाशक और उसे प्रकाश्य जान लेनेसे लोक-परलोक सब प्रकारसे सुख होता है। श्रीरामजी सत्य हैं, जगत्-व्यवहार असत्य है, ऐसा निश्चय होनेपर आवागमन छूट जाता है।

नोट—२ *'हेराई'* शब्दका स्वारस्य ही है कि वह वस्तु (जिसका 'हेराना' कहा गया है) है, पर हमारे काममें नहीं आती। अर्थात् अब हमको जगत् दुःखद नहीं रह गया। इस शब्दसे जगत्का अभाव नहीं सिद्ध होता, प्रत्युत इससे उसकी अन्यत्र सत्ता ही ज्ञात होती है।

वेदान्तभूषणजी—ईश्वरकर्तृक होनेसे स्वाप्नसृष्टि और जाग्रत्सृष्टि दोनों सत्य हैं, क्योंकि ***'ईस देइ फल हृदय बिचारी'*** अर्थात् ईश्वर तो जीवोंके शुभाशुभ कर्मानुसार सुख-दुःख फल देनेके लिये ही सृष्टिकी रचना करता है। अतः स्वाप्नसृष्टि भी ईश्वरकर्तृक है, इसे स्वयं श्रुति ही स्पष्टरूपसे कहती है, कि **'न तत्र रथा न रथयोगा न पन्थानो भवन्त्यथ रथान् रथयोगान् पथः सृजते स हि आत्मा'** (बृहदारण्यकोपनिषद् ४। ३। १०) अर्थात् स्वप्नावस्थामें रथ, घोड़े, सड़क और मैदान आदि नहीं रहते, परंतु जीवोंके कर्मानुसार वहाँपर भी ईश्वर सब कुछ तैयार कर देता है। जिस तरहसे स्वप्नमें कर्मफल भोगनेके बाद जागनेपर जीवोंको वह स्वप्न एक भ्रममात्र ही मालूम होता है, उसी तरह स्थूल शरीरसे जाग्रतावस्थाके सुख-दुःख भोग लेनेसे जब सब प्रकारके कर्मोंका अत्यन्ताभाव हो जाता है और जीव भगवत्कृपासे परमपद प्राप्त कर लेता है तब यह स्थूल जगत् भी एक भ्रम ही मालूम पड़ने लगता है। इसे श्रुतियोंने **'स उत्तमः पुरुषः स तत्र पर्य्येति'** (छान्दोग्य ८। १२। ३) इत्यादि शब्दोंमें समझाया है। इसका और भी विशेष विवरण *'जौं सपने सिर काटै कोई।'* (१। ११८। २) में देखिये।

नोट—३ *'जेहि जाने जग जाइ हेराई। जागे जथा सपन भ्रम जाई'* इति। स्वप्नसृष्टि और स्वप्नसृष्टिके व्यापार सोतेमें सत्य ही जान पड़ते हैं। जबतक स्वप्न देखनेवालेकी नींद नहीं टूटती, वह जागता नहीं, तबतक (स्वप्नमें ही कोई कितना समझावे) उसे कदापि कोई समझा नहीं सकता कि यह सब भ्रम है, स्वप्न है, मिथ्या है। जब वह स्वयं जागता है तब आप-ही-आप बिना परिश्रम जान लेता है कि यह सब हमारा भ्रम था।

श्रीलक्ष्मणजीने निषादराजको समझाते हुए इस बातको बड़ी उत्तम रीतिसे दिखाया है; यथा—*'सपने होइ भिखारि नृपु रंक नाकपति होइ। जागें लाभ न हानि कछु तिमि प्रपच जिय जोइ॥'* (२। ९२) अर्थात् जैसे कोई कंगाल स्वप्नमें देखे कि वह राजा हो गया, उसे इन्द्रका पद प्राप्त हो गया, अथवा कोई राजा देखे कि वह भिखारी हो गया, तो यह भ्रम दोनोंको स्वप्नमें सत्य जान पड़ता है। एक मारे खुशीके फूला नहीं समाता, दूसरा शोकसे पीड़ित हो रहा है। जब वे जागते हैं, तो न पहलेका हर्ष, न दूसरेका शोक रह जाता है। दोनोंको तब विश्वास होता है कि यह तो सब झूठा था, भ्रम था—यही हाल इस जगत्का है। *'जौं सपने सिर काटइ कोई। बिनु जागे न दूरि दुख होई।'* (१। ११८। २)

ठीक यही हाल जगत्का है। जो कुछ यहाँ हमें दिखायी पड़ता है, यह सब स्वप्नका भ्रम है, यथा—*'·······धरनि धामु धनु पुर परिवारू। सरगु नरकु जहँ लगि ब्यवहारू॥ देखिअ सुनिअ गुनिअ मन माहीं। मोह मूल परमारथ नाहीं॥'* (२। ९२) जबतक हम मोह-निशामें सो रहे हैं ये सब प्रपंच हमें सत्य जान पड़ते हैं, यथा—*'मोह निसा सब सोवनिहारा। देखिअ सपन अनेक प्रकारा॥'* (२। ९३) जब ज्ञानरूपी सूर्योदय होता है और हमारी आँखें खुलती हैं तब हम श्रीरामजीहीको सत्य जानते हैं और जगत्के व्यवहार असत्य

प्रतीत होते हैं, जगत्-प्रपंचको सत्य मानना ही स्वप्न देखना है। यह हमारी माता है, यह पिता हैं, यह भाई हैं, यह पुत्र है, यह स्त्री है, यह हमारा शरीर है, यह हमारा धन है, यह हमारा घर है, ये हमारे मित्र हैं, ये हमारे कुटुम्बी हैं, इत्यादि अहं-ममत्वके कारण सुख-दुःखात्मक भोगका नाम ही जगत् है। और संसारसे वैराग्य होना अहं-ममत्वका छूट जाना जगका हेराना वा खो जाना है। श्रीरामजीको जानना जागना है; यथा—*'उमा कहउँ मैं अनुभव अपना। सत हरिभजन जगत सब सपना॥'*, *'जानिय तबहिं जीव जग जागा। जब सब बिषय बिलास बिरागा॥ होइ बिबेकु मोह भ्रम भागा। तब रघुनाथ चरन अनुरागा॥'* (२। ९३। ४-५)

इसी विषयको विनयपत्रिकाके निम्न पदोंमें क्या ही अच्छा दिखाया है। इनसे ये रज्जु, सर्प, स्वप्न और जागना इत्यादि खूब स्पष्ट समझमें आ जावेंगे।

(१) *'जागु जागु जीव जड़ जोहै जग-जामिनी। देह गेह नेह जानि जैसे घन दामिनी॥ सूते सपने ही सहै संसृत संताप रे। बूड़ो मृगबारि खायो जेवरीको साँप रे॥ कहैं बेद बुध तू तौ बूझि मन माहिं रे। दोष दुख सपनेके जागे ही पै जाहिं रे॥ तुलसी जागे ते जाइ ताप तिहुँ ताय रे। रामनाम सुचि रुचि सहज सुभाय रे॥'* (७३)

(२) *'जानकीशकी कृपा जगावती सुजान जीव जागि त्यागि मूढ़ताऽनुराग श्री हरे। करि बिचार तजि बिकार भजि उदार रामचंद्र भद्रसिंधु दीनबंधु बेद बदत रे॥ मोहमय कुहू-निसा बिसाल काल बिपुल सोयो खोयो सो अनूप रूप स्वप्न जूपरे। अब प्रभात प्रगट ज्ञान-भानु के प्रकास बासना सराग मोह द्वेष निबिड़ तम टरे॥'* (७४)।

**बंदौं बालरूप सोइ रामू। सब सिधि सुलभ जपत जिसु नामू॥ ३॥**

शब्दार्थ—**सिधि** (सिद्धि)—आठ सिद्धियाँ (अणिमा आदि) भगवत् वा योगसम्बन्धी हैं और दस सामान्य सिद्धियाँ हैं, इनका विस्तृत उल्लेख मं० सो० १ में हो चुका है। इनके अतिरिक्त पाँच क्षुद्र सिद्धियाँ हैं। **सुलभ**=सहज ही प्राप्त हो जाता है।=सुगम। **जिसु**=जिसका। यह 'यस्य' का अपभ्रंश जान पड़ता है। यथा—*'नारद के उपदेस सुनि कहहु बसेउ किसु गेह॥'* (१। ७८) में **'किसु'**=किसका।

अर्थ—उन्हीं रामचन्द्रजीके बालरूप (एवं बालकरूप श्रीरामचन्द्रजी) की मैं वन्दना करता हूँ, जिनका नाम जपनेसे सब सिद्धियाँ सहज ही प्राप्त हो जाती हैं॥ ३॥

टिप्पणी—१ (क) *'बंदौं बालरूप'* इति। श्रीरामजीके निर्गुणरूपका गुण कहकर अब सगुणरूपके गुण कहते हैं। जब निर्गुणसे सगुण हुए तब प्रथम बालरूप धारण किया, इसीसे अथवा शिवजीकी उपासना बालरूपकी है इससे बालरूपकी वन्दना की। अथवा, शिवजी चाहते हैं कि हमारे हृदयरूपी आँगनमें प्रभु बसें और बालरूप ही आँगनमें विचरता है इसीसे वे दशरथ अजिरविहारी बालरूप रामकी वन्दना करते हैं। (ख) पूर्व जो *'श्रीरघुनाथरूप उर आवा॥'* (१। १११। ८) कहा था उसे यहाँ खोला कि वह कौन रूप था—बालरूप।

नोट—१ *'बालरूप सोइ रामू'* इति। (क) *'सोइ'*—जिनके विशेषण ऊपर दो चौपाइयोंमें दिये और यहाँ भी अर्थात् जिनको न जाननेसे झूठा भी सत्य प्रतीत होता है और जिनके जाननेसे जगत्के व्यवहार असत्य प्रतीत होने लगते हैं; पुनः जिनके नामके जपसे सम्पूर्ण सिद्धियाँ सुलभ हो जाती हैं उन रामचन्द्रजीको (*बंदौं*) (ख) श्रीबैजनाथजी लिखते हैं कि 'शिवजी शान्तरसमें श्रीरामचन्द्रजीको भजते हैं, इसीसे बालरूपहीको इष्ट मानते हैं, उसीका ध्यान करते हैं, क्योंकि जितने प्रकारकी भक्तियाँ हैं उन सबके करनेको बालरूप सुलभ हैं। इस अवस्थामें विधि-अविधि नहीं देखते और थोड़ी सेवामें बहुत प्रसन्न हो जाते हैं; जैसे बच्चा मिट्टीके खिलौनेके बदलेमें अमूल्य पदार्थको दे देता है।' [इस कथनसे भगवान्‌में अज्ञताका आरोपण होता है कि वे ऐसे अज्ञानी हैं कि किसीके फुसलानेमें आ जाते हैं। पर वस्तुतः इसमें भाव यह है कि भगवान्‌को जिस प्रकारसे जो भजता है भगवान् उसके साथ उसी प्रकारका नाट्य करते हैं। जो उनको

लड़का मानते हैं, उनके साथ वे भी प्राकृत बालकोंका-सा नाट्य करते हैं। दूसरा भाव इसमें यह है कि बालकरूपमें जितनी सेवा भक्त कर सकता है उतनी सेवा अन्य अवस्थाके रूपोंमें नहीं हो सकती।] (ग) श्रीलोमशजी और काकभुशुण्डिजीकी उपासना भी बालकरूप रामकी थी। यथा—'***बालकरूप राम कर ध्याना। कहेउ मोहिं मुनि कृपानिधाना॥***' (७। ११३) '***इष्टदेव मम बालक रामा॥***' (७। ७५) पुन:, देखिये कि सभी जीवोंके बालक स्वाभाविक ही बड़े ही भले और प्यारे लगते हैं, सम्भव है कि यह भी एक कारण बालरूपकी उपासनाका हो। (रा० प०) काशिनरेशजी लिखते हैं कि '***बालक सो परमहंस बेदन अस मनी है***' अर्थात् बालक परमहंसरूप हैं। अतएव बालरूपकी वन्दना की। (रा० प० प०)

नोट—२ इस ग्रन्थमें कई स्थानपर शिवजीका ध्यान करना, हृदयमें अन्य अवस्थाओंके रूपों और छबिकी मूर्त्तिको धारण करना और बाल, विवाह, उदासीन, राज्याभिषेक आदि सभी समयके रूपोंमें मग्न होना वर्णित है। यथा—'***परमानंद प्रेम सुख फूले। बीथिन्ह फिरहिं मगन मन भूले॥***' (१। १९६) '***संभु समय तेहि रामहिं देखा।***'……'***पुनि पुनि पुलकत कृपानिकेता।। भये मगन छबि तासु बिलोकी। अजहुँ प्रीति उर रहति न रोकी॥***' (१। ५०) '***अंतरधान भये अस भाखी। संकर सोइ मूरति उर राखी॥***' (१। ७७) '***बिनय करत गदगद गिरा पूरित पुलक सरीर॥***' (७। १३)……'***बार बार बर माँगउँ हरषि देहु श्रीरंग। पद सरोज अनपायनी भगति सदा सतसंग॥***' (७। १४)

इससे स्पष्ट है कि श्रीशिवजी सभी रसोंके आनन्दके भोक्ता हैं। '***सेवक स्वामि सखा सिय पीके।***' सभी रसोंके उपासक श्रीशिवजीको अपना गुरु मानते हैं—'***तुम त्रिभुवन गुरु बेद बखाना।***' '***संकर भजन बिना नर भगति न पावइ मोरि॥***' (७। ४५)। और '***बिनु तव कृपा रामपद पंकज सपनेहु भक्ति न होइ।***' '***रिषै सिद्ध मुनि मनुज दनुज सुर अपर जीव जग माहीं। तुअ पद बिमुख पार न पाव कोउ कल्पकोटि चलि जाहीं॥***' (विनय० ९) भी इसके प्रमाण हैं। भक्तमालमें श्रीनरसीजीकी कथा भी देखिये।

ब्रह्मचारी श्रीबिन्दुजी कहते हैं कि 'अब यह प्रश्न है कि श्रीशिवजीका ध्येय स्वरूप क्या है? कुछ महात्माओंका मत है कि उनका ध्येय रूप श्रीरामजीका बालस्वरूप है। क्योंकि यहाँपर वे स्वत: भावसे हार्दिक चावसे रामजीके बालरूपकी वन्दना करते हैं—'***बंदौं बालरूप सोइ रामू।***' यहाँपर उद्दीपन प्रत्यक्ष स्वरूप रामजीका कोई नहीं है। प्रत्यक्ष कोई उद्दीपन होनेसे उससे प्रभावान्वित होकर हृदय उसके वशीभूत हो जाता है। अत: उस समय उस छटाका ध्यान एवं स्मरण होना स्वाभाविक है। परंतु जब प्रत्यक्ष कोई उद्दीपन न हो उस समय यदि भावुक स्वत: किसी स्वरूपका ध्यान करे तो वह उसका सहज और एकान्त ध्येय समझा जाता है। यहाँपर भगवान् शङ्करका रामजीके बालस्वरूपका ध्यान ऐसा ही ध्यान है। उसका स्मरण होते ही वे मग्न हो गये, उनका मन उस रूपमाधुरीमें लीन हो गया। जब-जब रामावतार हुआ तब-तब उनको बाल-छबिके दर्शनोंके लोभसे वे अपने शिष्य भुशुण्डिके साथ छद्मवेषसे अयोध्या-राजसदनमें अवश्य गये हैं। छद्मवेष तभी धारण किया जाता है जब हृदयमें कोई रहस्यात्मक भाव उत्पन्न होता है—वह उसका निजी ऐकान्तिक भाव होता है। इससे भी भगवान् शङ्करका बाल-स्वरूप ही स्वकीय ध्येय सिद्ध होता है। यदि यह कहा जाय कि उन्होंने भगवान् (श्रीरामचन्द्रजी) के और रूपोंको भी प्रेमसे देखा है, जैसे विवाह, वनयात्रा, संग्राम, विजय, राज्याभिषेकके अवसरोंपर तथा भगवान्‌ने जब प्रकट होकर उन्हें विवाह-प्रस्तावपर सहमत किया तब—'***संकर सोइ मूरति उर राखी।***' तो इसका यह तात्पर्य है कि भावुकों और उपासकोंका एक अङ्गी रस अथवा ध्येय होता है और (रस अथवा रूप) अङ्ग-स्वरूप। जैसे मुख है तथा और अङ्ग हैं। जैसे सभी अङ्गोंकी छटाओंपर भावुक जन मोहित होते हैं और उनका वर्णन करते हैं पर मुखका विशेषरूपसे, उसके दर्शनोंसे वे अत्यन्त आनन्दित होते हैं। इसी प्रकार रसिक उपासकोंका अङ्गी रस उनका सविशेष भाव अथवा ध्येय होता है तथा इष्टके मुखेतर (अन्यान्य) अङ्गोंकी तरह अन्य रस या भाव अथवा स्वरूप अङ्गभूत सामान्य होता है यद्यपि '***जनक भवनकी शोभा जैसी। गृह गृह प्रति पुर देखिअ तैसी॥***' तथापि राजसदनकी विशेषता थी। इसी प्रकार इष्टके यद्यपि सभी स्वरूप एक-से गुण, धर्म एवं महत्त्वके हैं परंतु अपनी रुचि और भावनाके अनुसार एक विशेष अथवा अङ्गी ध्येय हो जाता है।

प्र० स्वामीका मत है कि शिवजी बालरूपके उपासक नहीं हैं और उसके प्रमाणमें लिखते हैं कि 'मानसमें जिस रूपके दर्शनके लिये शिवजी छटपटा रहे हैं वह बालरूप नहीं है। बालकाण्डमें (५०। १। ३) में *'जय सच्चिदानंद जगपावन'* कहकर जिनके प्रेममें मग्न हुए वह बालरूप नहीं है। *'सोइ मम इष्टदेव रघुबीरा'* में जिसका कथन है वह बालरूप नहीं है, 'रघुबीररूप' है (इसके आगे 'रघुबीर' 'बीर' 'रघुनाथ' शब्दोंके भेद लिखे हैं, जो दोहा २१० में आ चुके हैं)। *'प्रगटे राम कृतज्ञ कृपाला। रूप सील निधि तेज बिसाला॥'* (१। ७५। ५) यह अवतार समाप्तिके पश्चात्‌की बात है। यह भी बालरूप नहीं है। शिवपार्वती-विवाहके समय *'बैठे शिव बिप्रन्ह सिरु नाई। हृदय सुमिरि निज प्रभु रघुराई॥'* जिस राम-प्रभुकी इच्छासे विवाह स्वीकार किया और जिसकी मूर्त्तिको हृदयमें रख लिया था, उसीका स्मरण किया। यह भी बालरूप नहीं है।

*'जे पद सरोज मनोज अरि उर सर सदैव बिराजहीं। ते पद पखारत भाग्यभाजन जनक''''॥'* (३२४ छन्द) जनकजीने बालरूप रामके पद नहीं पखारे। इत्यादि। सम्पूर्ण मानसमें केवल एक बार ही बालरूपको वन्दन किया है। यहाँ बालरूपका वन्दन साभिप्राय है, गूढ़ार्थ-चन्द्रिकामें साधार सविस्तर लिखा है। यह वन्दन सती-पार्वती-भवानीके भ्रमको मिटानेके हेतु ही किया है।'—पाठक दोनों महात्माओंके विचारोंको स्वयं विचार करके जैसा उनको रुचे ग्रहण करें।

नोट—३ (क) श्रीसन्तसिंहजी पंजाबी लिखते हैं कि 'ऊपर दो चौपाइयोंमें स्वरूप-लक्षण अर्थात् परमात्माका निज स्वरूप वर्णन हुआ और यहाँ तटस्थ लक्षणोंका स्वरूप कहा है।' (तटस्थ=किसी वस्तुका वह लक्षण जो उसके स्वरूपको लेकर नहीं बल्कि उसके गुण और धर्म आदिको लेकर बतलाया जाय।) प्रोफे० दीनजी कहते हैं कि श्रीपार्वतीजीने प्रश्न किया कि निर्गुण ब्रह्म सगुण कैसे होता है, अतः निर्गुण सगुणको समझानेके लिये श्रीशिवजीने दोनों रूप कहे हैं, पहला रूप यही है—*'झूठेउ सत्य जाहि बिनु जाने।''''''जेहि जाने जग जाइ हेराई।''''''*' और दूसरा रूप *'बंदौं बालरूप सोइ रामू'* है, यह बात *'सोइ'* शब्दसे प्रकट होती है। इसीको पंजाबीजीने तटस्थ लक्षण कहा है।

संत उनमनी टीकाकार लिखते हैं कि यह रूप 'भ्रूघ्राणमध्यमें वा अधर श्वेत द्वीपमें सन्तोंको अनुभव होता है। यद्वा केवल नेत्र सूर्य अग्नि इत्यादि बुद्धि संवित् प्रवृत्ति करि। जिसका भेद सन्त ही जानते हैं।'

वि० त्रिपाठीजी लिखते हैं कि 'बालरूप राम और किशोररूप राम एक ही हैं फिर भी बालरूपके उपासक बालरूपको ही इष्ट मानते हैं। प्रसङ्ग यहाँ निर्गुण ब्रह्मका है। निर्गुणमें ही जगत्‌का भ्रम होता है। अतः बालक रामकी उपासनासे निर्गुण ब्रह्मकी उपासना कही। निर्गुण-सगुणमें अवस्था-भेद-मात्र है। सगुणको किशोरावस्था मानिये तो निर्गुण बाल्यावस्था है। जगत्‌में रहते हुए भी प्रपंचसे पृथक् होनेसे बालरूपमें निर्गुण उपासना ही कही।'

नोट—४ *'बंदौं बालरूप सोइ रामू।''''''अजिर बिहारी'* इस चौपाईमें 'प्रथम निदर्शना' अलंकार है। *'सोई' 'जोई'* इत्यादि शब्दोंसे यह बात प्रकट है। वीर कविजी लिखते हैं कि 'ऊपरकी चौपाई *( जेहि जाने जग जाइ हेराई।'''''' )* का भाव लेनेसे यहाँ 'विकस्वर अलंकार' होता है। पहले विशेष बात कहकर उसका समर्थन *'बंदौं बालरूप सोइ रामू'*—इस सामान्यसे करके फिर भी सन्तुष्ट न होकर विशेष सिद्धान्तसे समर्थन करते हैं कि जिनका नाम जपनेसे सारी सिद्धियाँ सुलभ होती हैं।'

टिप्पणी—२ (क) *'सोइ रामू।''''''*' इति। जिसके बिना जाने जगत् रज्जुमें सर्पकी नाईं भासता है और जिसके जाननेसे जगत् स्वप्नभ्रमवत् हिरा जाता है, ऐसा कहकर श्रीरामजीकी वन्दना करनेका भाव यह है कि पार्वतीजीको श्रीरामरूपमें भ्रम है, इसीसे श्रीरामरूपकी वन्दना करते हैं कि (मैं तो एक बार इनको उपदेश कर ही चुका पर इनको बोध न हुआ अतः अब आप ऐसी कृपा करें कि) मेरे अबकी बारके कथनसे इनको आपका रूप जान पड़े। आपके जाननेसे भ्रम दूर होता है, यह बात स्वयं पार्वतीजीने

आगे स्वीकार की है, यथा—'*तुम्ह कृपाल सबु संसय हरेऊ। राम स्वरूप जानि मोहि परेऊ॥*' (१। १२०। २) पुन: भाव कि बिना आपको जाने जगत्‌ने सतीजीको सर्पकी नाईं दु:ख दिया, डँस लिया, जिससे इनका मरण और पुनर्जन्म हुआ। अब मैं प्रार्थना करता हूँ, कृपा कीजिये कि आपका रूप इनको जान पड़े जिसमें आगे जन्ममरण-दु:ख न भोगना पड़े। (ख) '*सब सिधि सुलभ*......' इति। [यथा—'**विनाप्यर्थैः समर्थं हि दातुमर्थचतुष्टयम्। मङ्गलायतनं तन्मे बाल्ये यद्रामभाषितम्॥**' अर्थात् बिना अर्थके भी जो धर्मार्थ काम-मोक्ष देनेमें समर्थ है, ऐसा रामजीका बाल्यावस्थाका भाषण मेरे लिये मङ्गलका आयतन हो। (वि० त्रि०)] यहाँतक छ: चरणोंका अन्वय एक साथ है।

**मंगल भवन अमंगल हारी। द्रवौ सो दसरथ अजिर बिहारी॥ ४॥**

शब्दार्थ—**द्रवौ** ('द्रवना'से)=कृपा कीजिये। **अजिर**=आँगन।

अर्थ—मङ्गलोंके धाम, अमङ्गलोंके हरनेवाले और श्रीदशरथ महाराजके आँगनमें विहार करनेवाले वे (बालकरूप श्रीरामजी मुझपर) कृपा करें॥ ४॥

टिप्पणी—१ (क) नाम, रूप, लीला और धाम इन तीनोंका सम्बन्ध लगाकर तब शिवजी '*बंदौं बालरूप*......' इत्यादिसे रूपकी वन्दना करते हैं। तात्पर्य कि शिवजीने यहाँ श्रीरामजीके नाम, रूप, लीला और धाम चारोंका मङ्गलाचरण किया है। ☞ नामादि चारों '*मंगल भवन*' हैं यथा—

नाम—'*मंगल भवन अमंगल हारी। उमा सहित जेहि जपत पुरारी॥*' (१। १०। २)

रूप—'*मंगल भवन अमंगल हारी। द्रवौ सो दसरथ अजिर बिहारी॥*' (यहाँ)

लीला—'*मंगल करनि कलिमल हरनि तुलसी कथा रघुनाथ की॥*' (१। १०)

धाम—*सब बिधि पुरी मनोहर जानी। सकल सिद्धि प्रद मंगल खानी॥*' (१। ३५। ५)

अतएव पार्वतीजीके मङ्गल-कल्याणके लिये यहाँ कथाके प्रारम्भमें शिवजीने चारोंका मङ्गलाचरण किया है। यथा—'*सब सिधि सुलभ जपत जिसु नामू*' से नाम, '*बंदौं बालरूप सोइ रामू*' से रूप, '*द्रवौ सो दसरथ अजिर*' से धाम (क्योंकि दशरथ-अजिर श्रीअयोध्याधाममें है) और '*बिहारी*' से लीला (क्योंकि विहार करना लीला है) का मङ्गलाचरण किया है।

(ख) '*मंगल भवन*......' अर्थात् आप स्वयं मङ्गलके भवन हैं और दूसरोंका अमङ्गल हरते हैं। '**मङ्गलायतनो हरि:**' '*दसरथ अजिर बिहारी*' कहते हुए '*द्रवौ*' कहनेका तात्पर्य यह है कि हमारे हृदयाङ्गनमें ही विहार कीजिये। यथा—'*तन की दुति स्याम सरोरुह लोचन कंजकी मंजुलताइ हरैं। अति सुंदर सोहत धूरि भरे छबि भूरि अनंग की दूरि धरैं॥ दमकैं दँतियाँ दुति दामिनि ज्यों किलकैं कल बाल बिनोद करैं। अवधेस के बालक चारि सदा तुलसी मन मंदिरमें बिहरैं॥*' (क० १। १) इसीसे बालरूपकी वन्दना की। बालक घरका आँगन छोड़ बाहर नहीं निकलता, सदा आँगनमें ही 'विचरता' है।

नोट—१ स्मरण रहे कि श्रीमद्गोस्वामीजीने '*मंगल भवन अमंगल हारी*' नामको स्मरणकर कथा प्रारम्भ की है, यथा—'*भाय कुभाय अनख आलसहू। नाम जपत मंगल दिसि दसहू॥ सुमिरि सो रामनाम गुनगाथा। करउँ नाइ रघुनाथहि माथा॥*' (१। २८। १-२) भगवान् शङ्करने भी उसी '*मंगल भवन अमंगल हारी*' से कथा प्रारम्भ की है। भेद केवल इतना है कि श्रीमद्गोस्वामीजीने श्रीरामनामको '*मंगल भवन अमंगल हारी*' कहा, यथा—'*मंगल भवन अमंगल हारी। उमासहित जेहि जपत पुरारी॥*' (१। ९। २) और श्रीशिवजीने वही विशेषण श्रीरामरूपको दिया। इस प्रकार ग्रन्थमें नाम और रूप दोनोंका ऐक्य और दोनोंका '*मंगल भवन अमंगल हारी*' होना पुष्ट किया है। ग्रन्थकारने यह बात नाम-वन्दनामें भी प्रकट की है, यथा—'*समुझत सरिस नाम अरु नामी।*'

नोट—२ प्रोफे० दीनजी कहते हैं कि चौपाईके अन्तिम चरणमें जो '*अजिर बिहारी*' शब्द आये हैं वे बालरूपहीपर घटित हो सकते हैं। अत: '*मंगल भवन अमंगल हारी*' शब्द भी 'बालरूपके' ही विशेषण हैं। वास्तवमें राजा दशरथका अमङ्गल (वंशलोप वा अपुत्र होना इत्यादि) बालस्वरूप प्रकट होकर हरण किया और बालस्वरूपसे ही दशरथके घरको मङ्गलसे भर दिया। चारों भाइयोंके संस्कार होते समय उनके

जन्मके क्रमानुसार लगातार तीन दिनतक एक-एक मङ्गलका सिलसिला चला जाता था—जैसे रामजीकी छठी चतुर्दशीको, भरतजीकी पूनोंको और लक्ष्मण एवं शत्रुघ्नजीकी प्रतिपदाको। गीतावलीमें इस बातको रतजगाके सम्बन्धमें गोस्वामीजीने स्पष्ट कहा है, यथा—*'ज्यों आजु कालिहु परवु जागन होंहिगे नेवते दिये।'* (गी० बा० पद ५) इत्यादि।

पं० शुकदेवलालजी—प्रथम भगवच्चरित्रके मङ्गलाचरणहीमें श्रीपार्वतीजीके समस्त सन्देहोंको निवारण करते हुए श्रीशिवजीने अपने इष्टदेव बालरूप श्रीरामचन्द्रजीको प्रणाम किया है।

**करि प्रनाम रामहि त्रिपुरारी। हरषि सुधा सम गिरा उचारी॥ ५॥**
**धन्य धन्य गिरिराजकुमारी। तुम्ह समान नहिं कोउ उपकारी*॥ ६॥**

अर्थ—त्रिपुरासुरके नाशक श्रीमहादेवजी श्रीरामजीको प्रणाम करके हर्षपूर्वक अमृत समान वचन बोले॥ ५॥ हे गिरिराजकुमारी! तुम धन्य हो! धन्य हो! तुम्हारे समान कोई भी उपकारी (परोपकार करनेवाला) नहीं है॥ ६॥

टिप्पणी—१ *'करि प्रनाम······'* इति। ☞ श्रीशिवजीका तीन बार प्रणाम करना इस प्रसंगमें लिखा गया। एक *'बंदौं बालरूप सोइ रामू'*, दूसरे *'करि प्रनाम रामहि'* (यहाँ) और तीसरे दोहा ११६ में *'रघुकुलमनि मम स्वामि सोइ कहि सिव नायउ माथ।'* प्रथम *'बंदौं······'* में मानसिक मङ्गलाचरण है, दूसरे *'करि प्रनाम······'* में वाचिक और तीसरे *'सिव नायउ माथ'* में कायिक मङ्गलाचरण है। इस प्रकार मन, वचन और कर्म तीनोंसे यहाँ मङ्गलाचरण और प्रणाम दिखाया। पुनः, (ख) वन्दन और प्रणाम दो बातें दो बार कहकर जनाया कि निर्गुणरूपकी वन्दना की और सगुणरूपको प्रणाम किया। [*'बंदौं बालरूप'* ये श्रीशिवजीके वचन हैं और *'करि प्रनाम'* ये ग्रन्थकारके वचन हैं। 'वंदन' में स्तुति और प्रणाम दोनों शामिल हैं। सम्भवतः शिवजीने *'बंदौं बालरूप'* कहते हुए साथ-ही-साथ सिर झुकाया और फिर श्रीगिरिराजकुमारीको सम्बोधन करने लगे। इसी बातको कवि लिखते हैं *'करि प्रनाम······'*। *'बालरूप'* भी सगुणरूप ही है।] (ग) *'त्रिपुरारी'* का भाव कि शिवजीने त्रिपुरासुरका वध किया था, अब उनकी वाणीसे त्रिपुरके समान दुःखदाता मोहरूपी असुर एवं अरि नाशको प्राप्त होगा। [पुनः अमरकथाको सुनकर त्रैलोक्य आनन्दित होगा; अतएव *'त्रिपुरारी'* विशेषणयुक्त नाम दिया। १। ४८। ६, १। १०६। ८, १। १०७। ७ देखिये]। (घ) *'मगन ध्यानरस······। रघुपति चरित महेस तब हरषित बरनै लीन्ह।'* (१। १११) पर प्रसंग छोड़ा था। बीचमें मङ्गलाचरण किया, अब फिर वहाँसे प्रसंग उठाते हैं। वहाँ *'हरषित बरनै लीन्ह'* कहा, यहाँ *'हरषि सुधा सम गिरा उचारी'*। (ङ) गिरा सुधा समान है, पार्वतीजीने अन्तमें स्वयं इसे अपने मुखसे स्वीकार किया है। यथा—*'नाथ तवानन ससि स्रवत कथा सुधा रघुबीर। स्रवन पुटन्हि मन पान करि नहिं अघात मति धीर॥'* (७। ५२) 'सुधा सम' कहनेका भाव कि मधुर है, अत्यन्त रुचिकर है तथा जन्म-मरण छुड़ानेवाली है। (च) *'गिरा उचारी'* से पाया गया कि पूर्वकी चारों चौपाइयाँ मानसिक हैं। मनमें मङ्गलाचरण किया, अब वाणी उच्चारण करते हैं।

नोट—१ *'सुधा सम'* कहा क्योंकि आप अमर कथा कहेंगे; इसीको सुनकर शुकजी अमर हो गये। पुनः यहाँ *'सुधा'* ही न कहकर *'सुधा सम'* कथनका भाव कि—(क) समुद्रसे निकली हुई सुधासे तृप्ति हो जाती, अन्य दूसरे स्वादकी इच्छा नहीं होती, परन्तु श्रीरामकथा सुधासे रसज्ञोंकी तृप्ति नहीं होती—*'······नहिं अघात मति धीर।'* और साथ-ही-साथ अन्य रसोंके स्वादोंकी इच्छा भी नहीं होती। यथा—*'तौ नवरस षटरस रस अनरस ह्वै जाते सब सीठे।'* (विनय० १६९) (ख) समुद्रसे निकली हुई सुधा पाञ्चभौतिक शरीरको युगान्त या कल्पान्ततकके लिये अमर बना देती है और श्रीरामकथासुधा जीवको मुक्त कर देती है, जिससे वह फिर जन्म-मरणको प्राप्त ही नहीं होता—यथार्थतः अमर होना यही है।—**'न च पुनरावर्तते न च पुनरावर्तते'** (छां० ८। १५। १), **'मामुपेत्य तु कौन्तेय पुनर्जन्म न विद्यते'** (गीता ८। १६) (ग) इसपर शंका हो सकती

* अधिकारी—छ०। उपकारी—१६६१, १७०४, १७२१, १७६२, को० रा०।

है कि 'जब सुधा 'रामकथासुधा' की समता नहीं कर सकती तब उसकी उपमा देकर सम क्यों कहा?' तो उत्तर यह है कि जब समानताकी उपमा नहीं मिलती तब किञ्चित्मात्र भी जिसमें सादृश्य होता है उसीको देकर सन्तोष करना पड़ता है। जैसे '**इषुवत्सविता गच्छति**' अर्थात् सूर्य बाणके समान वेगसे जाते हैं। इसमें बाणकी अपेक्षा सूर्यकी गति बहुत भारी है पर उपमा दें, तो किसकी दें, उपमा तो सर्वसाधारणके अनुभूत वस्तुकी दी जाती है जिससे वह तात्पर्यको समझ जाय। पुन: जैसे '**वायु वेगसमं मनः**' इसमें मनके वेगको वायुके समान कहा गया है यद्यपि मनका वेग अकथनीय है। इत्यादि।

टिप्पणी—२ ***'धन्य धन्य गिरिराजकुमारी'***······' इति। (क) उपकारके सम्बन्धसे ***'गिरिराजकुमारी'*** सम्बोधित किया। (१०७। ६) ***'सैलकुमारी'*** देखिये। गिरि परोपकारी होते ही हैं। गिरिराजने गिरिजाका ब्याह शिवजीके साथ करके देवताओंका उपकार किया। यहाँ 'द्वितीय सम' अलङ्कार है। गिरिराजकी कन्या परोपकारिणी हुआ ही चाहे। इसमें परिकराङ्कुरकी ध्वनि है। (ख) ***'धन्य धन्य'***—भाव कि तुम धन्य हो, गिरिराज धन्य हैं कि जिनकी तुम कन्या हो। ☞ परोपकारी जीव धन्य हैं क्योंकि परोपकार समस्त शास्त्रोंका सिद्धान्त है; यथा—***'पर हित सरिस धर्म नहिं भाई। पर पीड़ा सम नहिं अधमाई। निर्नय सकल पुरान बेद कर। कहेउँ तात जानहिं कोबिद नर॥'*** (७। ४१। १-२) '**अष्टादशपुराणानां व्यासस्य वचनद्वयम्। परोपकारः पुण्याय पापाय परपीडनम्**' (प्रसिद्ध)। धर्म और पुण्य पर्याय हैं। ***'कवन पुण्य श्रुति बिदित बिसाला'*** गरुड़जीके इस प्रश्नका उत्तर भुशुण्डिजीने यह दिया है कि ***'परम धरम श्रुति बिदित*** **अहिंसा**।' (७। १२१। २२) इस तरह धर्म=पुण्य। पुन: यथा—'**सुकृती पुण्यवान् धन्यः**' (अमरकोश ३। १। ३) [***'धन्य धन्य'*** में आदरकी वीप्सा है यहाँ वीप्सा अलङ्कार है। ***'धन्य धन्य'*** अर्थात् तुम प्रशंसायोग्य हो। ☞ श्रीभुशुण्डिजीने गरुड़जीके सुन्दर प्रश्न सुनकर उनकी बुद्धिके सम्बन्धमें ऐसा ही कहा है; यथा—***'धन्य धन्य तव मति उरगारी। प्रस्न तुम्हारि मोहि अति प्यारी॥'*** (७। ९५। २) वैसे ही यहाँ ***'प्रस्न सुहाई'*** के सम्बन्धसे ***'धन्य धन्य'*** कहा गया। अध्यात्म रा० सर्ग १ में इसी भावको यों लिखा है—'**धन्यासि भक्तासि परमात्मनस्त्वं यज्ज्ञातुमिच्छा तव रामतत्त्वम्। पुरा न केनाप्यभिचोदितोऽहं वक्तुं रहस्यं परमं निगूढम्**॥' अर्थात् तुम श्रीरघुनाथजीकी परम भक्ता हो क्योंकि तुमने श्रीरामतत्त्वके जाननेकी इच्छा प्रकट की है। अतएव तुम धन्य हो; प्रशंसायोग्य हो। इस परम गोप्य रहस्यको आजतक मुझसे किसीने नहीं पूछा था और न मैंने कहा।—इसके अनुसार यह भी भाव हुआ कि परम गोप्य रहस्य प्रथम-प्रथम इन्होंने पूछा इससे ***'धन्य धन्य'*** कहा। वि० त्रि० का मत है कि पार्वतीजीके 'प्रथम विनय ***'तौ प्रभु हरहु मोर अज्ञाना। कहि रघुनाथ कथा बिधि नाना॥'*** की पूर्तिमें यहाँसे हाथ लगा। इस विनयमें दो अभिलाषाएँ हैं—एक तो रामकथा सुननेकी, दूसरी अज्ञानहरणकी। अत: दोनों अभिलाषाओंके लिये दो बार धन्य-धन्य कहा।' (ग) ***'उपकारी'***—क्या उपकार किया यह आगे कहते हैं कि सबको श्रीरामचरणानुरागी बनानेके लिये, जगत्का कल्याण करनेके लिये श्रीरामकथा, श्रीरामतत्त्व पूछा है।

**पूँछेहु रघुपति कथा प्रसंगा। सकल लोक जग पावनि गंगा॥ ७॥**
**तुम्ह रघुबीर चरन अनुरागी। कीन्हिहु प्रश्न जगत हित लागी॥ ८॥**

शब्दार्थ—**कथा प्रसंगा**=कथाके प्रसङ्ग। (पं० रा० कु०)।=कथा और प्रसङ्ग।=कथाके सम्बन्धमें। (वीरकवि) १। ३७। १५ ***'औरउ कथा अनेक प्रसंगा'*** देखिये।

अर्थ—तुमने श्रीरघुनाथजीके कथाके प्रसङ्ग (एवं कथा और उसके प्रसङ्ग) पूछे हैं, जो समस्त लोकोंके लिये जगत्पावनी गङ्गाजी (के समान) है॥ ७॥ तुम श्रीरघुवीरजीके चरणोंकी अनुरागिणी हो। तुमने प्रश्न जगत्के कल्याणके लिये किये हैं॥ ८॥

टिप्पणी—१ ***'पूँछेहु रघुपति कथा'***······' इति। (क) पार्वतीजीने कहा था ***'रघुपति कथा कहहु करि दाया'***, वही बात यहाँ शिवजी कह रहे हैं। (ख) **कथा प्रसंगा**=कथाके प्रसङ्ग। पार्वतीजीने कथाके प्रसङ्ग ही पूछे हैं, यथा—***'प्रथम सो कारन कहहु बिचारी'***······।', ***'पुनि प्रभु कहहु राम अवतारा'***, ***'बालचरित

*पुनि कहहु उदारा'* इत्यादि। ये सब कथाके प्रसङ्ग ही हैं। इसीसे 'कथा प्रसङ्ग' पूछना कहा। (किसी-किसीका मत है कि 'यहाँ कथा और प्रसङ्ग दो बातें हैं। पार्वतीजीने प्रथम जो यह कहा था कि ***'रघुपति कथा कहहु करि दाया'*** उसकी जोड़में यहाँ ***'कथा'*** शब्द दिया और फिर जो एक-एक प्रसङ्ग पृथक्-पृथक् पूछे उनकी जोड़में यहाँ 'प्रसङ्ग' शब्द दिया गया।' पंजाबीजीका मत है कि 'प्रसङ्ग'=वार्ता। (ग) ***'सकल लोक जग पावनि गंगा।'*** इति। अर्थात् सकल लोक और जगत्‌को पावन करनेवाली हैं। यथा—**'वाल्मीकिगिरिसम्भूता रामसागरगामिनी। पुनातु भुवनं पुण्या रामायण महानदी॥'** यहाँ ***'सकल लोक'*** से ***'जग'*** को पृथक् कहा है, यथा—***'तिभुवन तीनि काल जग माहीं। भूरि भाग दसरथ सम नाहीं॥'*** (२। २। ४) ***'मम अनुरूप पुरुष जग माहीं। देखेउँ खोजि लोक तिहुँ नाहीं॥'*** (३। १७। ९) तथा यहाँ ***'लोक जग पावनि'*** कहा। हमने ***'जगपावनि'*** को गङ्गाका विशेषण माना है और ***'सकल लोक'*** को ***'कथा प्रसंगा'*** के साथ लेकर अर्थ किया है। प्रोफे० दीनजी कहते हैं कि मेरे विचारसे इसका पाठ ***'पावनि जस'*** होना अधिक सङ्गत जान पड़ता है, नहीं तो लोक और जग शब्दोंमें पुनरुक्ति हो जाती है और न्यूनपदत्व और अन्वयभ्रष्टताका दोष आ जाता है। परन्तु प्रायः समस्त प्राचीन पोथियोंमें पाठ ***'जग पावनि'*** ही है। 'लोक' का अर्थ 'लोग' भी है। इस तरह यह 'द्वितीय निदर्शना अलङ्कार' है।

नोट—१ ***'सकल लोक जग पावनि गंगा'*** इति। श्रीभगीरथ महाराज केवल अपने पुरुखा सगरमहाराजके पुत्रोंके उद्धारके लिये गङ्गाजीको पृथ्वीपर लाये। पर इस कार्यसे केवल उन्हींका उपकार नहीं हुआ वरन् तीनों लोकोंका हुआ और आज भी हो रहा है क्योंकि गङ्गाजीकी एक धारा स्वर्गको और एक पातालको भी गयी जहाँ वे मन्दाकिनी और भोगवती नामसे प्रसिद्ध हुईं। श्रीशिवजी कहते हैं कि इसी तरह तुम्हारे प्रश्नोंसे तीनों लोकोंका हित होगा। यहाँ पार्वतीजीका प्रश्न भगीरथ है कथाको जो कहेंगे वह गङ्गा है। प्र० स्वामी लिखते हैं कि ***'जग'*** में श्लेष है। जगका दूसरा अर्थ है जंगम। भागीरथी गङ्गा तो देश-परिच्छिन्न हैं, स्थावर हैं और पार्वतीजीके निमित्तसे प्रकट होनेवाली रामकथा गङ्गा जंगम हैं—***'सबहि सुलभ सब दिन सब देसा। सेवत सादर समन कलेसा॥'***

टिप्पणी—२ ***'तुम्ह रघुबीर चरन अनुरागी……।'*** इति। (क) ☞ भगवान्‌के अनुरागी जगत्‌का हेतुरहित उपकार करते हैं। यथा—***'जग हित निरुपधि साधु लोग से।'*** (१। ३२। १३) ***'हेतु रहित जग जुग उपकारी। तुम्ह तुम्हार सेवक असुरारी॥'*** (७। ४७। ५) तुममें मोह नहीं है (यह आगे कहते हैं), तुमने जगत्‌के हितार्थ प्रश्न किया, अतएव तुम रघुवीरचरणकी अनुरागिणी हो। पुनः कथा सुननेसे अनुराग होता है, यथा—***'राम चरन रति जो चह अथवा पद निर्बान। भावसहित सो यह कथा करउ स्रवन पुट पान।'*** (७। १२८) तुम तो अनुरागिणी हो ही, तुमने जगके हितके लिये प्रश्न किये जिसमें कथा सुनकर सारा जगत् श्रीरामचरणानुरागी हो जाय तथा (सकल लोक जग पावनि गङ्गाके समान यह कथा पूछकर तुमने) सकल जगको पावन किया।

नोट—२ श्रीरामचरणानुरागिणी कहनेका एक कारण पूर्व श्रीभरद्वाजप्रसङ्गमें भी कह आये हैं कि वक्ताओंकी यह रीति है। दूसरे, श्रीरामचन्द्रजीने प्रकट होकर श्रीशिवजीसे इनकी सिफारिश की थी, यथा—***'अति पुनीत गिरिजा कै करनी। बिसतर सहित कृपानिधि बरनी॥' ……'जाइ बिबाहहु सैलजहिं……'*** (७६) श्रीरामपदमें प्रेम न होता तो प्रभु ऐसा क्यों करते ? तीसरा भाव कि श्रीरामपदानुरागीको मोहभ्रमादि होता ही नहीं और तुम श्रीरामानुरागिणी हो, अतः यह निश्चय है कि तुम अपनेमें मोह आदि कहकर लोकहित करना चाहती हो। (रा० प्र०)

नोट—३ श्रीअनुसूयाजीने अम्बा श्रीजानकीजीको पातिव्रत्यधर्मका उपदेश देकर कहा था कि ***'सुनु सीता तव नाम सुमिरि नारि पतिब्रत करहिं। तोहि प्रानप्रिय राम कहिउँ कथा संसार हित॥'*** (३। ५) वैसे ही यहाँ शिवजीके वचन हैं।

**दोहा—रामकृपा तें पारबति* सपनेहु तव मन माहिं।**
**सोक मोह संदेह भ्रम मम बिचार कछु नाहिं॥११२॥**

अर्थ—हे पार्वती! मेरे विचार (समझ) में तो श्रीरामकृपासे तुम्हारे मनमें स्वप्नमें भी शोक, मोह, सन्देह और भ्रम कुछ भी नहीं है॥११२॥

टिप्पणी—१ (क) *'रामकृपा तें'* का भाव कि तुम श्रीरघुवीरचरणानुरागिणी हो, इसीसे तुमपर रामकृपा है और रामकृपासे शोकादि कुछ नहीं है। इससे शिवजीका यह सिद्धान्त निश्चित हुआ कि मोह-संदेहादि सब श्रीरामकृपासे जाते रहते हैं अथवा, (ख) श्रोताकी प्रशंसा करना सब वक्ताओंकी रीति है। यथा—*'रामभगत तुम्ह मन क्रम बानी। चतुराई तुम्हारि मैं जानी॥ चाहहु सुनै राम गुन गूढ़ा। कीन्हिहु प्रस्न मनहु अति मूढ़ा॥'* (१। ४७) (इति याज्ञवल्क्यः), *'सब बिधि नाथ पूज्य तुम्ह मेरे। कृपापात्र रघुनायक केरे॥ तुम्हहिं न संसय मोह न माया। मो पर नाथ कीन्हि तुम्ह दाया॥'* (७। ७०) (इति भुशुण्डिः) तथा यहाँ *'तुम्ह रघुबीर चरन अनुरागी।'* अथवा (ग) शोक-मोह-सन्देहादिके रहते हुए भी यह कहकर कि तुम्हारे मनमें कुछ भी नहीं है यह दिखाते हैं कि भगवत्-सम्मुख होते ही जीवके अवगुण नहीं गिने जाते। यथा—*'सनमुख होइ जीव मोहि जबहीं। जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं॥'* (५। ४४। २)

नोट—१ *'सोक मोह संदेह भ्रम'* के भेद (१। ३१। ४) *'निज संदेह मोह भ्रम हरनी'* में देखिये। वि० टी० कार लिखते हैं कि 'श्रीअगस्त्य-शिवसत्सङ्गमें जो वस्तु पार्वतीजीको प्राप्त हुई थी वह उन्होंने वनमें जाकर गँवा दी, खो दी, इसीसे शोक हुआ, सतीतनमें पतिके वचनपर विश्वास न हुआ और श्रीरामचन्द्रजीके ब्रह्म होनेमें सन्देह हुआ यही मोह है; और श्रीरामचन्द्रजीको प्राकृत नर समझा यह भ्रम है।'

नोट—२ यहाँ प्रायः लोग यह शङ्का किया करते हैं कि 'श्रीशिवजी यह कहते हैं कि 'हमारे विचारमें तो तुम्हें शोक-मोह-सन्देह-भ्रम स्वप्नमें भी नहीं है', यदि यह सत्य है तो फिर शिवजीने आगे चलकर यह कैसे कहा कि, *'अस निज हृदय बिचारि तजु संसय भजु रामपद। सुनु गिरिराजकुमारि भ्रम-तम रबिकर बचन मम॥'* (११५) *'एक बात नहिं मोहिं सुहानी। जदपि मोह बस कहेउ भवानी॥'* (१। ११४। ७) और *'राम सो परमातमा भवानी। तहँ भ्रम अति अबिहित तव बानी॥ अस संसय आनत उर माहीं। ग्यान बिराग सकल गुन जाहीं॥'* (११९। ५-६)। इतना ही नहीं वरन् श्रीपार्वतीजीने आपके इन अन्तिम वचनोंका समर्थन भी तुरत ही किया कि *'ससिकर सम सुनि गिरा तुम्हारी। मिटा मोह सरदातप भारी॥ तुम्ह कृपाल सब संसय हरेऊ। रामसरूप जानि मोहि परेऊ। नाथ कृपा अब गयेउ बिषादा॥'* (१। १२०। १—३) और कथाकी समाप्तिपर पुनः ऐसा ही कहा, यथा—*'नाथ कृपा मम गत संदेहा।''''''उपजी राम भगति दृढ़ बीते सकल कलेस।'* (७। १२९) *'तुम्हरी कृपा कृपायतन अब कृतकृत्य न मोह।'* (७। ५२) श्रीयाज्ञवल्क्यजी भी इनको भ्रम होना सूचित करते हैं वे श्रीभरद्वाजमुनिसे कहते हैं कि *'सुनि सिवके भ्रम भंजन बचना। मिटि गइ सब कुतरक कै रचना॥ भइ रघुपतिपद प्रीति प्रतीती। दारुन असंभावना बीती॥'* (११९। ७-८)

इस शङ्काका समाधान भी अपनी-अपनी मतिके अनुसार लोगोंने किया है।

१—श्री पं० रामकुमारजी कहते हैं कि—(क) भगवान् भक्तोंके अवगुणोंको हृदयमें नहीं लाते, यथा—*'जन अवगुन प्रभु मान न काऊ। दीनबंधु अति मृदुल सुभाऊ॥', 'जन गुन अलप गनत सुमेरु करि अवगुन कोटि बिलोकि बिसारन'* (वि० २०६), इत्यादि। [विशेष प्रमाणोंके लिये २९ (५) देखिये।] तब औरोंकी क्या गिनती! सन्त अपने प्रभुका स्वभाव-गुण क्यों न अनुसरें ? अतः वे भी प्रभुके कृपापात्रोंमें अवगुण

---

* हिमसुता—१७२१, छ०, भा० दा०, रा० प०। पारबति—१६६१, १७०४, १७६२, को० रा०, गौड़जी। 'हिमसुता' पाठमें 'हिम' से हिमगिरिका अर्थ लेना होगा। साहित्यानुसार 'हिमसुता' शब्द ठीक नहीं है, 'हिमगिरिसुता' ठीक है। हिमगिरिसुताका भाव यह है कि 'हिमगिरि अचल, धवल, स्वच्छ है, वैसे ही तुम्हारी बुद्धि अचल, निर्मल और निर्विकार है। (वै०, रा० प्र०)

रहते हुए भी उन अवगुणोंको गिनतीमें नहीं लाते। पुनः, (ख) उत्तम वक्ताओंकी रीति यहाँ दिखायी है। प्रथम प्रशंसा फिर भय आदि यह रीति है। अर्थात् वे श्रोताको पहिलेसे भय नहीं देते; क्योंकि ऐसा करें तो वह डर जायगा, उनका उपदेश ही क्या सुनेगा। जिसका फल यह होगा कि हृदयमें सन्देहकी ग्रन्थि जैसी-की-तैसी बनी ही रह जायेगी। इस विचारसे वे उसकी बड़ी प्रशंसा करते हैं। ऐसा ही श्रीयाज्ञवल्क्य मुनि और श्रीभुशुण्डिजीने किया है; यथा—*'रामभगत तुम्ह मन क्रम बानी।''''''कीन्हेहु प्रस्न मनहु अति मूढ़ा॥'* (४७) यह कहकर मुनि कथा कहने लगे और जैसे *'सब बिधि नाथ पूज्य तुम्ह मेरे। कृपापात्र रघुनायक केरे॥ तुम्हहिं न संसय मोह न माया। मोपर नाथ कीन्हि तुम्ह दाया॥'* (उ० ७०) काकभुशुण्डिजीने यह कहकर तब फिर कहा कि *'तुम्ह निज मोह कहा खगसाईं। सो नहिं कछु आचरज गोसाईं॥'*; वैसे ही यहाँ शिवजीने ऐसा कहकर उनका आदर किया, दमदिलासा दिया, आगे फिर *'तदपि असंका कीन्हेहु सोई'* इत्यादि वचन कहते हुए भय देकर कथा प्रारम्भ करेंगे। आदर और भयकी रीति श्रीशुकदेव-परीक्षित्‌जीके संवादमें भी देख लीजिये। (पं० रामकुमारजीके भाव सयुक्तिक और उचित हैं। (प० प० प्र०)

२—श्रीमानसी वन्दनपाठकजी इस शङ्काका समाधान यों करते हैं कि 'यहाँ जो मोहादिका न होना कहा है वह अविद्याजनित शोकमोहादि हैं, जो भवसिन्धुमें डालनेवाले हैं। श्रीपार्वतीजीको विद्यामायाजनित मोह है। वह रामविषयक मोह भव पार करनेवाला है, यथा—*'हरि सेवकहिं न ब्याप अबिद्या। प्रभु प्रेरित ब्यापइ तेहि बिद्या। ताते नास न होइ दास कर। भेद भगति बाढ़इ बिहंगबर॥'* (उ० ७९) इसका प्रमाण शिवजीने आप ही दिया है कि *'तदपि असंका कीन्हेहु सोई। कहत सुनत सबकर हित होई॥'* इस चौपाईसे प्रकरण लगा है, संदेह नहीं है। विशेष (११४। ७) भी देखिये।

३—शिवजीके इस वाक्यमें *'राम कृपा तें'* और *'मम बिचार'* शब्द बड़े गूढ़ हैं। जिसपर श्रीरामचन्द्रजीकी कृपा होगी उसको शोकादिक रह ही नहीं सकते, श्रीरामकृपासे यह सब छूट जाते हैं, हमारे विचारमें तो ऐसा ही है कि तुमने यह शङ्का परोपकारहेतु ही की है, यह तुम्हारी शङ्का नहीं है। इसीसे आगे चौपाईमें 'अशङ्का' शब्द दिया अर्थात् जो सत्य ही शङ्का नहीं है किंतु शङ्काभास है—केवल शङ्काका मिस (बहाना) है। आगे जो कहा *'तहँ भ्रम अति अबिहित तव बानी'* और *'जदपि मोह बस कहेउ भवानी'* उसका तात्पर्य यह जान पड़ता है कि तुम्हें मोह नहीं है, कथा सुननेके लिये तुमने अपनेको मोहके वश होना कहा। तो भी हमारे सिद्धान्तमें परात्पर परब्रह्मके विषयमें ऐसा प्रश्न (इस अभिलाषासे भी कि कथा सुननेको मिले) करना अनुचित है और जो उन्होंने कहा कि संशय छोड़ो, हमारे भ्रमभंजन वचन सुनो, यह श्रीपार्वतीजीके वचनोंके अनुसार कहा है अर्थात् यदि तुम्हें भ्रम है जैसा तुम कहती हो तो वह भी दूर हो जायगा और औरोंके भी भ्रम दूर होंगे।

४—ब्रह्मचारी श्रीबिन्दुजी कहते हैं कि वास्तविक तात्पर्य यह है कि भगवान् शिवने पहले श्रीपार्वती अम्बाके स्वतः शुद्ध (प्रकृत) स्वरूपको सहज ही सम्बोधन किया और फिर उनके लीला (नाट्य) स्वरूपको। यही कारण है कि उन्होंने पूर्वमें उनमें स्वप्नमें भी शोक-मोह, संदेह-भ्रमकी स्थिति नहीं मानी, उनकी उद्भावना नहीं की। फिर घटनाक्रमसे उनमें किञ्चित् मोहका आरोप करते हुए उनके नाट्य-चरितको बुद्धिस्थ किया। अस्तु, भगवतीका मूल स्वरूप तो वैसा ही शुद्धबुद्धमुक्त-स्वभाव (मोहरहित) है, जैसा श्रीशिव भगवान्‌ने वर्णन किया है।

५—मानसतत्त्व-विवरणकार लिखते हैं कि 'शिवजी श्रीपार्वतीजीके *'अज्ञ जानि जनि रिसि उर धरहू। जेहि बिधि मोह मिटइ सोइ करहू॥', 'सो फल भली भाँति हम पावा', 'तब कर अस बिमोह अब नाहीं। रामकथा पर रुचि मन माहीं॥'* इत्यादि इन वाक्योंका अभिप्राय देखकर कहते हैं कि हे पार्वती! जिस किस्मके शोक-मोह और संदेह-भ्रमपर मेरी दृष्टि थी सो तुम्हारे मनमें स्वप्नमें भी नहीं है। इस जागृतिका क्या कहना, कि जो तुम पूर्ववृत्तान्त स्मरण करके डर रही हो। *'तदपि असंका''''''*'और *'एक बात नहिं मोहि सुहानी।* फिर यह क्यों कहा? इसका उत्तर यह है कि शिवजी जिस बातपर क्रोध कर रहे हैं वह 'बिमोह' मात्र अर्थात् महामोह है। वह बात न सुहायी, क्योंकि वह उपासकोंकी रीतिके प्रतिकूल है।'

६—पं० श्रीकान्तशरणजी कहते हैं कि 'श्रीशिवजी और श्रीयाज्ञवल्क्यजीने इनके पूर्व पक्षके अंशोंको लेकर कहा है कि जिनमें मोह आदि वास्तविक रूपमें होंगे, वे इन वचनोंसे छूट जायँगे। इस तरह इस प्रसङ्गके महत्त्वको कहा है। श्रीपार्वतीजीने जिस भावसे अज्ञानी बनकर पूर्व पक्ष किया है उसका अन्ततक निर्वाह किया है और इस तरह श्रोताओंके लिये प्रसङ्गोंका महत्त्व और वक्ताओंके प्रति कृतज्ञता वर्णनकी रीति बतलायी है।'

७—वि० त्रि० लिखते हैं कि शिवजी पार्वतीजीपर रामजीकी कृपा देख चुके हैं कि स्वयं प्रकट होकर माँगा कि *'जाइ बिबाहहु सैलजहि यह मोहि माँगे देहु',* उस पार्वतीको शोक, मोह, संदेह, भ्रम क्या कभी हो सकता है? *'क्रोध मनोज लोभ मद माया। छूटै सकल राम की दाया॥'* अत: कहते हैं *'सोक मोह""नाहिं।'*

**तदपि असंका कीन्हिहु सोई। कहत सुनत सब कर हित होई॥ १॥**
**जिन्ह हरिकथा सुनी नहिं काना। श्रवनरंध्र अहि* भवन समाना॥ २॥**

शब्दार्थ—**असंका** (आशंका)=झूठी शंका, बिना सन्देहका सन्देह, बनावटी शंका।=शङ्का।=अति शङ्का। (प० प० प्र०) **श्रवन**=कान। **रंध्र**=छेद। **अहि भवन**=सर्पका बिल।=बाँबी।

अर्थ—तथापि तुमने वही आशंका की है जिसके कहने-सुननेसे सबका कल्याण होगा॥ १॥ जिन्होंने कानोंसे हरिकथा नहीं सुनी, उनके कानोंके छिद्र साँपके बिलके समान हैं॥ २॥

टिप्पणी—१ *'तदपि असंका""'* इति। (क) असंका; यथा—*'जौ नृपतनय त ब्रह्म किमि नारि बिरह मति भोरि।'* (१०८) पार्वतीजीने शङ्काएँ कीं और कथा-प्रसंग पूछे; दोनोंसे सबका हित कहते हैं, यथा—*'पूँछेहु रघुपति कथा प्रसंगा। सकल लोक जग पावनि गंगा॥ तुम्ह रघुबीर चरन अनुरागी। कीन्हिहु प्रस्न जगत हित लागी॥'*— यही हित है। अर्थात् इससे जगत् पवित्र होगा; सबका भ्रम दूर होगा; जैसा शिवजी स्वयं आगे कहते हैं—*'सुनु गिरिराजकुमारि भ्रम तम रबिकर बचन मम।'* (११५)— ('असंका' शब्द देकर शिवजी अपने पूर्वके वचनोंको पुष्ट कर रहे हैं। अर्थात् जिसमें तुम्हें संदेह नहीं है वही बात शङ्का उठाकर तुमने दूसरोंके हितार्थ पूछी है। 'आशंका' शुद्ध शब्द है उसे 'असंका' कहा, जैसे आकाशको अकास, 'आनंद' को अनंद, 'आश्चर्य या आचरज' को अचरज, 'आषाढ़' को असाढ़ इत्यादि।)

(ख) *'कहत सुनत""।'* कहने-सुननेसे कैसे हित होगा ? इस तरहकी लोग कहेंगे कि पार्वतीजीने ऐसी शंका की थी और शिवजीने ऐसा उत्तर दिया था, अतएव माननीय है—ऐसा समझकर भ्रमादि दूर होंगे। [पुन:, *'कहत सुनत'* का भाव कि चाहे कहें, चाहे सुनें अर्थात् वक्ता और श्रोता दोनोंका कल्याण होगा। *'सब कर'* का भाव कि इसके कथन-श्रवणका अधिकार सबको है, कोई भी जाति, वर्ण या आश्रमका क्यों न हो, सभीका भला होगा। *'कहत सुनत सब कर""'* ये शब्द *'जदपि जोषिता नहिं अधिकारी।""'* के उत्तरमें हैं। अर्थात् तुमने जो कहा कि 'स्त्रियाँ अधिकारिणी नहीं हैं' यह बात श्रीरामकथाके सम्बन्धमें नहीं है, इसके कथन-श्रवणके अधिकारी सभी हैं। क्या हित होगा? उत्तर—भ्रम दूर होगा, भवबन्धन छूटेगा, श्रीरामपदमें प्रीति होगी। यथा—*'कहहिं सुनहिं अनुमोदन करहीं। ते गोपद इव भवनिधि तरहीं॥'* (७। १२९) *'उपजइ प्रीति रामपदपंकज। मन क्रम बचन जनित अघ जाई। सुनहिं जे कथा श्रवन मन लाई॥'* (७। १२६)]

प० प० प्र०—*'तदपि असंका कीन्हिहु""'* इति। पार्वती-तनमें भी सती-तनवाला संशय बना ही है, यह देखकर उसकी चर्चा चलायी। श्रीरामजीको नर कहा, इससे महेशजीके हृदयमें खलबली मच गयी है, पर पार्वतीजी सभीत न होने पावें इस विचारसे ऊपरसे शान्ति धारण करके कहा कि *'कहत सुनत सबकर हित होई।'* तथापि हृदयकी खलबली शान्तिका भङ्ग करना चाहती है, आशंकाका विषय छोड़कर

* दूसरा अर्थ—'जिन कानोंने हरिकथा नहीं सुनी वे कर्णछिद्र सर्पके बिलके समान हैं।' आगेकी चौपाइयोंमें इसी प्रकारका अर्थ है इसलिये यहाँ भी वैसा ही अर्थ कर सकते हैं। (मा० पी० प्र० सं०)

विषयान्तर करनेका यही कारण है। सतीदेहमें भवानीने जो कुछ किया था, उसकी स्मृति बलवती होकर आगेकी चौपाइयोंमें पर्यायसे व्यक्त हो रही है। इन चौपाइयोंमें तथा आगे (११५। ८) तक मानस-शास्त्राभ्यासियोंके लिये बहुत खाद्य भरा हुआ है। २—श्रीरामजीका दर्शन होनेपर सतीजीने नमन नहीं किया। नमस्कार भी नहीं किया। बहुत समझानेपर भी उनके हृदयमें रामभक्ति न आयी। रामगुनगान न करके उलटे उनकी परीक्षा लेनेको दौड़ी गयीं। अन्तमें कैलासके मार्गमें शिवजीके विविध कथाएँ कहनेपर भी उन्हें हर्ष न हुआ। सतीजीने रामकथा सुनानेकी प्रार्थना भी न की। इन्हीं छः बातोंकी चर्चा आगेकी छः चौपाइयोंमें करते हैं; पर पार्वतीजी भयभीत होने न पावें, इस हेतुसे क्रम भङ्ग किया है तथा 'राम' के स्थानमें 'हरि' शब्द प्रयुक्त किया है। तथापि चौ० ६ में तो 'राम' शब्द आ ही गया। ऊपर कहा हुआ भावार्थ न लेनेसे प्रथम चौपाई और बादकी छः चौपाइयोंमें विषयान्तर और अप्रस्तुत विषयक कथन दो दोष होते हैं।

वि० त्रि०—१ *'तदपि असंका……'* इति। भाव कि तुम्हारी आशङ्काका अभिप्राय यह है कि चरित्र देखकर जब मुझे मोह हो गया तो वही चरित्र सुनकर जीवोंको मोह होना कौन बड़ी बात है। अतः शङ्काके व्याजसे वे बातें मुझसे कहलाना चाहती हो जिनसे संसार मोहसे छूटकर कल्याण प्राप्त करे।

(२) *'जिन्ह हरिकथा……'* इति। जो विकलेन्द्रिय या विकृतमस्तिष्क हैं उन्हें किसी वस्तुका सम्यक् ज्ञान हो नहीं सकता, उनका कथन सर्वथा उपेक्षणीय है। ऐसे लोग छः प्रकारके होते हैं। इनसे शिवजी श्रोताको सावधान किये देते हैं। पार्वतीजीके प्रथम विनय *'तौ प्रभु हरहु मोर अज्ञाना।……'* का उत्तर हरि-विमुख निन्दा तथा प्रार्थनाकी स्वीकृतिद्वारा शिवजी दे रहे हैं। ☞निन्दा विधेयकी स्तुतिके लिये की जाती है, निन्दायोग्यकी निन्दाके लिये नहीं। यहाँपर छः प्रकारकी निन्दा हरिकथाश्रवणकी स्तुतिके लिये की गयी। कामकथारूपी सर्पके निवाससे जिसके कर्णछिद्र बिलके समान भयंकर हो गये, उसके कलेजेपर साँप लोट रहा है, उसके कहनेका कौन प्रमाण! (यह पहिला हरिविमुख है)।

टिप्पणी—२ *'जिन्ह हरिकथा सुनी नहिं काना।……'* इति। (क) हरिकथासे हित होता है और ये उसे नहीं सुनते, अतएव इनके कान व्यर्थ हैं। (यहाँ 'हरि' शब्द देकर भगवान्के सभी अवतारों और स्वरूपोंकी कथाएँ सूचित कर दी हैं। कोई-कोई 'हरि' से 'राम' का ही अर्थ लेते हैं।—**'रामाख्यमीशं हरिम्'** (मं० श्लो० ६) (ख) *'सुनी नहिं काना'* का भाव कि जो वस्तु सुननी चाहिये, जैसे कि हरिकथा, यथा—*'श्रवनन्ह को फल कथा तुम्हारी'* (विनय०), सो नहीं सुनते और जो न सुनना चाहिये, सो सुना करते हैं। (ग) अहिभवनमें सर्प रहते हैं, कानोंमें प्रपञ्चरूपी सर्पोंने निवास किया है। अर्थात् कानोंसे विषयप्रपञ्चकी कथाएँ सुना करते हैं। [सर्पके बिलमें प्रायः कोई दूसरा जीव नहीं जाता, वैसे ही जिन कानोंमें विषय-सर्प रहता है उनमें श्रीरामकथा नहीं जाती। अर्थात् उनको रामकथा अच्छी नहीं लगती] (घ) यहाँ 'श्रवण' को प्रथम कहा क्योंकि श्रवणभक्ति प्रथम है। (ङ) पहले तो कहा कि *'कहत सुनत सब कर हित होई'*; इसमें *'कहत'* शब्द प्रथम रखा और *'सुनत'* पीछे, परंतु यहाँ *'जिन्ह हरिकथा सुनी नहिं काना'* कहा, अर्थात् यहाँ 'सुनना' प्रथम कहते हैं और आगे *'जो नहिं करै राम गुन गाना'* कहते हैं अर्थात् कहना, गुण-गान करना यह पीछे कहते हैं। इस भेदमें तात्पर्य यह है कि श्रवण और कथन दोनों ही एक समान प्रधान हैं, कोई कम-वेश—न्यूनाधिक नहीं है। पुनः, श्रीमद्भागवतमें नवधा भक्तिकी गणना 'श्रवण' हीसे प्रारम्भ की है; यथा—'**श्रवणं कीर्त्तनं विष्णोः स्मरणं पादसेवनं**……।' (७। २३) पुनः, वाल्मीकिजीने श्रीरघुनाथजीके जो चौदह निवासस्थान कहे हैं, उनमें भी यही क्रम है। यथा—*'जिन्हके श्रवन समुद्र समाना। कथा तुम्हारि सुभग सरि नाना॥ भरहिं निरंतर होहिं न पूरे।……लोचन चातक जिन्ह करि राखे। रहहिं दरस जलधर अभिलाषे॥ ……जसु तुम्हार मानस बिमल हंसिनि जीहा जासु।'* (२। १२८); अतएव गोस्वामीजीने भी इस प्रसंगको 'श्रवण' हीसे उठाया।

**नयनन्हि संत दरस नहिं देखा। लोचन मोरपंख कर लेखा॥ ३॥**
**ते सिर कटु तुंबरि सम तूला। जे न नमत हरि गुर पद मूला॥ ४॥**

शब्दार्थ—दरस (सं० दर्श, दर्शन)=मूर्ति, स्वरूप; यथा—'*भरत दरसु देखत खुलेउ मग लोगन्ह कर भागु।*' (२। २२३) ☞'दरस दिखाना, दरस देखना, पूर्वकालमें भाषाका मुहावरा-सा रहा है ऐसा जान पड़ता है। यथा—'*ग्राम निकट जब निकसहिं जाई। देखहिं दरसु नारि नर धाई॥*' (२। १०९। ७) श्रीप्रियादासजीने 'भक्तिरसबोधिनी टीका' (भक्तमाल) में इसका प्रयोग किया है। यथा—'*कह्यो कुवाँ गिरो चले गिरन प्रसन्न हिये जिये सुख पायो ल्यायो दरस दिखाइए।*' (पीपाजीकी कथा क० २८३) अर्थात् दर्शन दिया। वैसे ही यहाँ, '**दरस देखा**'=दर्शन किया। पुन:, **दरस**=दर्श, दर्शन; यथा—'*दरस परस मज्जन अरु पाना। हरइ पाप कह बेद पुराना॥*' (१। ३५। १) **मोरपंख**=मोरका पर जो देखनेमें बहुत अधिक सुन्दर होता है और जिसका व्यवहार अनेक अवसरोंपर प्राय: शोभा या शृङ्गारके लिये होता है। **लेखा**=लिखा हुआ।=रेखाएँ, नकशा, गणना, गिनती। **कटु तुंबरि**=कड़वी लौकी (तोंबी) जो भोजनके कामकी नहीं होती। कोई-कोई इसका अर्थ उस कड़वी लौकीका करते हैं जिसके कमण्डल बनाये जाते हैं, जो भोजनके कामकी नहीं होती। संत-महात्माओंका कहना है कि यहाँ कमण्डलुवाली तोंबीसे तात्पर्य नहीं है, क्योंकि उससे तो संत-महात्माओंका बड़ा उपकार होता है। प्रत्युत उस लौकीसे तात्पर्य है जो लम्बी-लम्बी होती है तथा जो कमण्डलके काममें नहीं आती, किन्तु उससे जाल बनाये जाते हैं जो जीवोंके फाँसने और नष्ट करनेके काममें आते हैं। यह लौकी जाल-सरीखी फैलती है। लोग जहाँ इसे होते देखते हैं तुरत उखाड़ फेंकते हैं। बैजनाथजी '*कड़वी तरोई*' अर्थ करते हैं। '*सम तूल*'—समान, सम, समतल—ये पर्याय शब्द हैं। इनका अर्थ है—सदृश, तुल्य। 'समतूल' गहोरा (बुन्देलखण्ड) देशकी बोली है। वहाँ 'बराबर' के अर्थमें इसका प्रयोग होता है। मानसमें अन्यत्र भी इसका प्रयोग हुआ है। यथा—'*एहि बिधि उपजै लच्छि जब सुंदरता सुखमूल। तदपि सकोच समेत कबि कहहिं सीय समतूल॥*' (१। २४७) पदमूल-नोट-२ देखिये।

अर्थ—जिन नेत्रोंसे सन्तोंका दर्शन नहीं किया गया* वे नेत्र मोरके पंखकी चन्द्रिकाओंके समान हैं॥ ३॥ जो सिर भगवान् और गुरुके चरणोंपर नहीं झुकते अर्थात् उनको प्रणाम नहीं करते, वे कड़वी तोंबीके समान† हैं॥ ४॥

टिप्पणी—१ '*नयनन्हि संत दरस*……' इति। (क) कथा संतके संगसे होती है; यथा—'*बिनु सतसंग न हरि कथा*……।' (७। ६१) जब संतोंका दर्शन ही नेत्रोंसे कभी नहीं किया, उनके पास गये ही नहीं, तब कथा सुननेको कैसे मिले? कथामें रुचि क्योंकर उत्पन्न हो? (ख) प्रथम '*जिन्ह हरि कथा सुनी नहिं काना*' से हरिविमुखोंको कहा, अब '*संत दरस नहिं देखा*' से संत वा भागवतविमुखोंका हाल कहते हैं कि साधु-संतोंसे इतना वैर रखते हैं कि आँखोंसे उन्हें देखते भी नहीं, उनका संग तो दूर रहा। (भा० २। ३। २२) में जो '**लिङ्गानि विष्णोर्न निरीक्षतो ये**' ये शब्द आये हैं उसके 'विष्णुलिङ्ग' से संत ही अभिप्रेत हैं। '*संत भगवंत अंतर निरंतर नहिं किमपि*……।'

बैजनाथजी—'यहाँ असज्जनोंके लक्षण वर्णन करके, सज्जनोंके लक्षण दर्शित किये हैं। यथा—कथाश्रवण

---

* अर्थान्तर—१—संतोंको देखकर उनका अवलोकन नहीं किया। २—नेत्रोंसे संतदर्शन न हुआ और न संतोंने उन्हें देखा। ३—आदरसमेत दर्शन नहीं किया। (पं० शुकदेवलालजी। इनका मत है कि दरस और देखा दो शब्द ताकीदके [illegible] सब अर्थ टीकाकारोंने पुनरुक्ति समझकर किये हैं। वस्तुत: यहाँ पुनरुक्ति नहीं है। दरस=रूप, [illegible] *अभिलाषे।* (२। १२८। ६)

उचित, संतदर्शन उचित तथा हरिगुरुचरणोंको प्रणाम उचित, हरिभक्ति उचित, गुणगान उचित, कथा सुनकर हर्ष होना और लीलामें मोह न होना उचित हैं। इन सब बाह्यकर्मोंके साथ एक-एक अङ्गको व्यर्थ कहा (यदि उस अङ्गसे वह उचित कार्य न हुआ)।'

नोट—१ '***लोचन मोरपंख कर लेखा।***' मोरके पक्षमें चन्द्रिकाएँ बनी होती हैं, देखनेमें वे नेत्र-से जान पड़ते हैं जो बड़े ही सुन्दर और जीको लुब्ध करनेवाले होते हैं। परंतु वे चन्द्रिकाएँ देखने ही भरकी सुन्दर हैं, रेखा-मात्र ही हैं, उनकी आकृति मात्र नेत्रकी-सी है, उनसे देखनेका काम नहीं लिया जा सकता, चक्षुका काम रूप देखना है सो उन नेत्रोंसे नहीं हो सकता, अतएव वे व्यर्थ हैं।

संतोंका दर्शन जिन नेत्रोंसे न किया गया उनकी गणना मोरपंखमें की गयी है। अर्थात् वे नेत्र चाहे कैसे ही खूबसूरत कमलवत् ही क्यों न हों, पर वे और उनकी सुन्दरता व्यर्थ हैं। हरिगुरु-संत-दर्शनहीसे नेत्र सफल होते हैं अन्यथा वे नेत्र केवल नामधारक हैं। यथा—'***निज प्रभु बदन निहारि निहारी। लोचन सुफल करउँ उरगारी॥***' (७। ७५)

वि० त्रि०—संतका लक्षण है कि उनको भगवान्‌के चरणोंको छोड़कर न शरीर प्यारा है, न घर। यथा—'***तजि मम चरन सरोज प्रिय जिन्ह कहुँ देह न गेह।***' रामप्रेमसे ही संतका आदर है। जिसने रामकथा सुनी ही नहीं, वह संतके दर्शनके लिये क्यों जायगा ? नेत्रोंका फल भगवद्दर्शन है, किंतु भगवद्दर्शन दुर्लभ है, परंतु भगवान्‌की चलमूर्ति (संत) का दर्शन तो सुलभ है। संतदर्शनसे पाप दूर होते हैं, उसे संतदर्शन हुआ नहीं, अतः वह पापी है, जो चाहेगा बकेगा।

टिप्पणी—२ '***ते सिर कटु तूंबरि सम तूला***' इति। (क) कटुतूँबरी सिरके आकारकी होती है। लम्बी तूँबरी न तो कड़वी होती है और न सिरके आकारकी ही, इसीसे 'कटु' तूँबरीकी उपमा दी गयी। (ख) ☞संतका दर्शन करनेपर संतके चरणोंमें मस्तक नवाना चाहिये। अतः क्रमसे कथाश्रवण कहकर जिनसे कथा प्राप्त होती है उन संतोंको कहा, संत-मिलनपर प्रणाम कहा गया। परंतु यहाँ 'संत' पद न कहकर उसकी जगह '***हरि गुर पद मूला***' कहा, इसका कारण यह है कि हरि, गुरु, संत तीनों एक ही हैं—'***भक्ति भक्त भगवंत गुरु चतुर नाम बपु एक***'— (नाभाजी)। पुनः, (ग) प्रथम 'हरि' को कहा, फिर संतको और यहाँ गुरुको भी कहकर हरिका सम्पुट दिया। इस तरह यहाँतक भगवान्‌के तीनों रूपोंसे विमुखोंका हाल कहा—हरिविमुख, संतविमुख और गुरुविमुख। सब दृष्टान्त तीनोंमें लगा लेने चाहिये, यह जनाया। आगे भगवान्‌के चौथे शरीर 'भक्ति' से विमुखोंको कहते हैं।

नोट—२ '***ते सिर****……। ***हरि गुर पद मूला॥***'—यहाँ '***पद मूला***' पद कैसा उत्तम पड़ा है। इसकी विलक्षणता श्रीमद्भागवतके स्कन्ध २ अ० ३ के २३ वें श्लोकसे मिलान करनेपर स्पष्ट देख पड़ेगी। 'पदमूल' तलवेको कहते हैं। रज और चरणामृतका तलवोंहीसे सम्बन्ध है। इन्हींकी रज लोग सिरपर धारण करते और तीर्थपान करते हैं। ध्यान भी चरणचिह्नका किया जाता है। पुनः ऊपरके भागमें नूपुरादि और नखका ध्यान होता है। तुलसी ऊपर चढ़ेगी। शीशपर तलवे ही रखे जाते हैं। '***पद मूला***' में पदका ऊपरी भाग और पदमूल दोनोंका अभिप्राय भरा है। श्रीमद्भागवतके '**भागवताङ्घ्रिरेणुम्**' अर्थात् रज और '**विष्णुपद्या……न वेद गन्धम्**' अर्थात् चरणोंपर चढ़ी हुई तुलसीका सूँघना दोनों ही भाव इसमें दर्शा दिये हैं।

इसी प्रकार यहाँ 'हरि-गुरु' पद भी विलक्षण चमत्कार दिखा रहा है। इसमें गुरु-गोविन्द, दोनोंके नमस्कारका भाव है। श्रीमद्भागवतमें भी इन दोनोंकी वन्दनाका निर्देश है; यथा—'**न नमेन्मुकुन्दम्**' (श्लोक २१) अर्थात् भगवान्‌का वन्दन। फिर वहीं आगे '**भागवताङ्घ्रिरेणुम्**' अर्थात् भगवद्भक्त, भागवतकी चरणरेणुका सेवन। अस्तु, दोनों ही सेव्य हैं।

हरिगुरुको जो प्रणाम इत्यादि नहीं करते उनके सिर व्यर्थ हैं। वे शरीरपर मानो बोझ ही हैं, जैसा श्रीमद्भागवतके '**भारः परं पट्टकिरीटजुष्टमप्युत्तमाङ्गम्**' (श्लोक २१) में कहा है।

**जिन्ह हरि भगति हृदय नहिं आनी। जीवत सव समान तेइ प्रानी॥ ५॥**
**जो नहिं करै राम गुन गाना। जीह सो दादुर जीह समाना॥ ६॥**

शब्दार्थ—**आनी** (आनना-लाना) लायी; यथा—*'कुल कलंकु तेहि पावँर आना।'* (१। २८३। ३) *'आनहु रामहि बेगि बोलाई।'* (२। ३९। १) **सव** (शव)=मृतक; मुर्दा, मरा हुआ।

अर्थ—जो हरिभक्तिको अपने हृदयमें नहीं लाये अर्थात् जिनमें हरिभक्ति नहीं है, वे प्राणी जीते-जी मुर्देके समान हैं॥ ५॥ जो जिह्वा श्रीरामगुणगान नहीं करती, वह मेंढककी जीभके समान है॥ ६॥

टिप्पणी—१ *'जिन्ह हरि भगति हृदय नहिं आनी।……'* इति। (क) हरिगुरुसंतचरणसेवनसे हरिभक्ति प्राप्त होती है, अतः *'नमत हरि गुर पद मूला'* कहकर हरिभक्तिको कहा। (ख) *'हरि भगति'* शब्दसे जितनी प्रकारकी भक्तियाँ हैं उन सबोंका यहाँ ग्रहण हुआ। इनमेंसे तीन भक्तियाँ ऊपर तीन अर्धालियोंमें कही गयीं—कथा-श्रवण, संतसङ्ग और गुरुपदसेवा *( तीसरि भगति अमान )*। (ग) *'जीवत सव समान तेइ प्रानी'* इति। (लं० ३० में अङ्गदके वचन रावणप्रति ये हैं—*'कौल कामबस कृपिन बिमूढ़ा। अति दरिद्र अजसी अति बूढ़ा॥ सदा रोगबस संतत क्रोधी। बिष्नु बिमुख श्रुति संत बिरोधी॥ तनु पोषक निंदक अघखानी। जीवत सव सम चौदह प्रानी॥'* इनमें १४ प्राणियोंको *'जीवत सव सम'* कहा है, उन १४ मेंसे दो ये हैं—विष्णुविमुख और श्रुतिसंतविरोधी। अर्थात् जीते-जी ये मुर्दे (मरे हुए) के तुल्य हैं। इस प्रमाणके अनुसार उपर्युक्त चार अर्धालियोंमें जिनको गिना आये वे भी इस गणनामें आ गये, क्योंकि *'जिन्ह हरिकथा सुनी नहिं।'* तथा *'जिन्ह हरि भगति हृदय नहिं आनी'* ये दोनों विष्णुविमुख हैं ही और*'नयनन्हि संत दरस नहिं देखा'* ये संत विरोधी हैं तथा ये सब एवं*'जे न नमत हरि गुर पद मूला'*।श्रुतिविरोधी हैं क्योंकि वे श्रुतिके प्रतिकूल चलते हैं।

नोट—१ शवसमान कहनेका भाव कि उनका जीवन व्यर्थ है, जैसे मुर्दा फेंका या जलाया ही जाता है। पुनः, जैसे मुर्देको छूनेसे वा उसके सम्बन्धसे लोग अपवित्र हो जाते हैं, स्नान-दानसे शुद्धि होती है, वैसे ही भक्तिहीन मनुष्य अपवित्र तथा अमङ्गलरूप और उसके संगी भी अपवित्र।

नोट—२ प्रोफे० श्रीदीनजी कहते हैं कि शव-समानका भाव यह है कि जैसे मुर्दाशरीर घृणाका पात्र हो जाता है, उसी प्रकार वह भी घृणाका पात्र है, कोई भी उसे अपने संनिकट नहीं रखना चाहता।

नोट—३ मिलान कीजिये—*'जीवत राम मुए पुनि राम सदा रघुनाथहि की गति जेही। सोइ जियै जगमें तुलसी नतु डोलत और मुए धरि देही॥'* (क०)

टिप्पणी—२ *'जो नहिं करै राम गुन गाना'*। इति। (क) ऊपर शिवजीने कथाके सम्बन्धमें कहा है कि *'कहत सुनत सब कर हित होई।'* *'कहत सुनत'* मेंसे *'सुनत'* अर्थात् श्रवण करना *'जिन्ह हरिकथा सुनी नहिं काना'* में कह आये, अब *'कहत'* अर्थात् कीर्तन करना वा कीर्तन-भक्ति कहते हैं। भक्ति पाकर गुणगान करना चाहिये, अतः *'हरि भगति हृदय नहिं आनी'* के बाद 'गुणगान' करना लिखा। गुणगान करने और सुननेसे हृदय पुलकित होता है, अतः आगे इसे कहते हैं।

नोट—४ *'जीह सो दादुर जीह……'* इति। मेंढकके जिह्वा होती ही नहीं। इसकी उपमा देकर सूचित किया है कि जिह्वाका साफल्य श्रीरामगुणगानमें है, जिनसे यह न हुआ उनकी जिह्वा व्यर्थ है, न होनेके सदृश है, उनका बोलना निरर्थक है जैसे कोई बिना जीभके बड़बड़ाये। मेंढकोंके विषयमें ऐसी कथा है कि एक बार अग्निदेव रुष्ट होकर पातालको चले गये। वहाँ अग्निकी उष्णतासे मेंढक ऊपर निकल आये। इधर देवगण अग्निकी खोजमें जब वहाँ पहुँचे तो मेंढकोंसे अग्निका पता लग गया। अग्निदेवने मेंढकोंको शाप दिया कि तुम्हारे जीभ न रहे। इसपर देवताओंने उन्हें आशीर्वाद दिया कि उष्णतासे यदि तुम मृतक भी हो जाओगे तो भी पावसके प्रथम जलसे तुम सजीव हो जाया करोगे। अयोध्याकाण्डमें कहा भी है—*'जल ज्यों दादुर मोर भए पीन पावस प्रथम।'* (२५१) सुना है कि जापानमें इनकी खेती होती है।

**कुलिस कठोर निठुर सोइ छाती। सुनि हरिचरित न जो हरषाती॥ ७॥**

शब्दार्थ—निठुर (निष्ठुर)=निर्दय, दयारहित।

अर्थ—वही छाती वज्रसमान कठोर और निष्ठुर है, जो हरिचरित सुनकर भी हर्षित नहीं होती॥ ७॥

नोट—१ भगवत्-चरित्र सुनकर हर्ष होना चाहिये। यथा—*'कहत सुनत हरषहिं पुलकाहीं। ते सुकृती मन मुदित नहाहीं॥'* (१। ४१। ६) हर्ष न होनेसे कठोर और निष्ठुर कहा। निठुर='जिसमें निचोड़नेसे कुछ भी रस न निकले; रसहीन, भावनाहीन; जिसमें कोई भी भली-बुरी भावना रह ही नहीं जाती।' (प्रो० दीनजी) पुनः, निठुर कहनेका भाव कि वे अपनी आत्माका नाश कर रहे हैं, उनको अपने ऊपर भी किञ्चित् दया नहीं आती। (वै०) यथा—*'ते जड़ जीव निजात्मक घाती। जिन्हहिं न रघुपति कथा सोहाती॥'* (७। ५३) पुनः द्रवीभूत न होनेसे कुलिसकठोर और निष्करुण होनेसे निठुर कहा। यथा—*'हिय फाटहु फूटहु नयन जरहु सो तन केहि काम। द्रवै स्त्रवै पुलकै नहीं तुलसी सुमिरत राम॥'* (वि० त्रि०)

नोट—२ चौपाईका भाव यह है कि प्रथम तो वे कथा सुनते ही नहीं और यदि सुनते भी हैं तो हृदयमें हर्ष नहीं होता, प्रत्युत मोह होता है। मोहका हेतु आगे कहते हैं।

नोट—३ ☞११३ (२) से ११३ (७) तक सभी चौपाइयोंका भाव और अर्थ श्रीमद्भागवत २। ३ से मिलता-जुलता है; अतः हम उन श्लोकोंको यहाँ उद्धृत करते हैं—

**आयुर्हरति वै पुंसामुद्यन्नस्तं च यन्नसौ। तस्यर्ते यत्क्षणो नीत उत्तमश्लोकवार्तया॥**

**तरवः किं न जीवन्ति भस्त्राः किं न श्वसन्त्युत। न खादन्ति न मेहन्ति किं ग्रामपशवोऽपरे॥**

**श्वविड्वराहोष्ट्रखरैः संस्तुतः पुरुषः पशुः। न यत्कर्णपथोपेतो जातु नाम गदाग्रजः॥**

**बिले बतोरुक्रमविक्रमान्ये न शृण्वतः कर्णपुटे नरस्य। जिह्वाऽसती दार्दुरिकेव सूत न चोपगायत्युरुगाय गाथाः॥**

**भारः परं पट्टकिरीटजुष्टमप्युत्तमाङ्गं न नमेन्मुकुन्दम्। शावौ करौ नो कुरुतः सपर्यां हरेर्लसत्काञ्चनकङ्कणौ वा॥**

**बर्हायिते ते नयने नराणां लिङ्गानि विष्णोर्न निरीक्षतो ये। पादौ नृणां तौ द्रुमजन्मभाजौ क्षेत्राणि नानुव्रजतो हरेर्यौ॥**

**जीवञ्छवो भागवताङ्घ्रिरेणुं न जातु मर्त्योऽभिलभेत यस्तु। श्रीविष्णुपद्या मनुजस्तुलस्याः श्वसञ्छवो यस्तु न वेद गन्धम्॥**

**तदश्मसारं हृदयं बतेदं यद्गृह्यमाणैर्हरिनामधेयैः। न विक्रियेताथ यदा विकारो नेत्रे जलं गात्ररुहेषु हर्षः॥**

(१७—२४)

अर्थात् सूर्यनारायण उदय और अस्त हो-होकर मनुष्योंकी आयुको वृथा नष्ट करते हैं। इसमें उतना ही समय सफल है जिसमें हरिचर्चा की गयी हो। जैसे मनुष्य जीते हैं वैसे क्या वृक्ष नहीं जीवित रहते, लोहारकी धौंकनी क्या हमारे-तुम्हारे समान नहीं श्वासा लेती, ऐसे ही गाँवके पशु कुत्ता, शूकर आदि क्या भोजन और मलत्याग नहीं करते? यदि मनुष्यमें भक्ति नहीं है तो मनुष्योंमें और उनमें कुछ अन्तर नहीं है। कुत्ते जिस प्रकार द्वार-द्वार फिर-फिरकर गृहपालद्वारा ताड़ित होते हैं, ग्राम्य शूकरादि जैसे असार वस्तु ग्रहण करते हैं और ऊँट जैसे केवल कण्टक भोजन करता है एवं गधा जैसे केवल बोझ लादता है, वैसे ही जिसके श्रवणपथमें भगवान्ने कभी प्रवेश नहीं किया, अर्थात् हरिभक्तिहीन मनुष्य कुत्तेके समान सर्वत्र तिरस्कारको पाता है और शूकरके समान असार-(विषय-) ग्राही है। वह ऊँटके समान दुःखादि कण्टकोंको भक्षण करता है एवं गधेके समान केवल संसारके भारमें क्लेशको प्राप्त होता है॥ हे सूतजी! मनुष्यके कान बिलके समान व्यर्थ हैं, जिनमें कभी भगवच्चरित्र नहीं गया, वह जिह्वा मेंढककी जिह्वाके सदृश वृथा है जो हरिकथाओंका कीर्तन नहीं करती। वह सिर पट्टे और किरीट-मुकुटसे युक्त होनेपर भी भाररूप है जो हरिके आगे न झुके, वे हाथ मुर्देके हाथोंके समान हैं जो सोनेके कंकण धारण किये हैं, परंतु कभी हरिकी सेवा या टहल नहीं करते। मनुष्योंके वे नेत्र मोरके परमें जैसे केवल देखनेके नेत्र बने होते हैं वैसे ही हैं, जो भगवान्की पवित्र मूर्तियोंका दर्शन नहीं करते और वे पैर वृक्ष ऐसे वृथा

हैं, जो भगवान्‌के मन्दिरमें या तीर्थ-स्थानमें नहीं जाते॥ वह मनुष्य जीते ही मरेके तुल्य है जो भगवान्‌के चरणोंकी रेणुकाको सिरपर नहीं धारण करता या विष्णुके चरणोंकी चढ़ी हुई तुलसीके गन्धको नहीं सूँघता। वह हृदय वज्रका है जो हरिनामोंको सुनकर उमग न आवे, गद्गद न हो और रोमाञ्च न हो आवे एवं नेत्रोंमें आनन्दके आँसू न भर आवें। (१७—२४)

नोट—☞४ *'जिन्ह हरिकथा सुनी नहिं काना।'* से *'सुनि हरिचरित न जो हरषाती।'* तकका आशय यह है कि श्रवणेन्द्रिय तभी सफल होती है जब उससे निरन्तर भगवान्‌का चरित्र सुना जाय, अतः कानोंसे सदा भगवान्‌के चरित्र, गुण और नामादिको ही श्रवण करना चाहिये। इसी तरह नेत्रोंसे संत-भगवंत आदिके दर्शन, चरणस्पर्श आदि करे, सिरसे भगवान्, संत-गुरुको प्रणाम करे। हृदयसे भक्ति करे और चरित्र सुनकर, संत-हरि-गुरुका दर्शन और उनको प्रणाम करके हर्षित हो, हर्षसे शरीरमें रोमाञ्च हो। जिह्वासे निरन्तर श्रीरामयश-गुण-नामका कीर्तन करे, इत्यादिसे ही नेत्र, सिर, हृदय और जिह्वाका होना सफल है, नहीं तो इनका होना व्यर्थ हुआ। यथा—'**चक्षुर्भ्यां श्रीहरेरेव प्रतिमादिनिरूपणम्। श्रोत्राभ्यां कलयेत्कृष्णगुणनामान्यहर्निशम्॥**' (६१। ९७); '**सा जिह्वा या हरिं स्तौति तन्मनस्तत्पदानुगम्। तानि लोमानि चोच्यन्ते यानि तन्नाम्नि चोत्थितम्॥**' (५०। २९) (प० पु० स्वर्गखण्ड) इन सब चौपाइयोंमें 'प्रथम निदर्शना' अलंकार है।

प० प० प्र०—श्रीमद्भागवतके श्लोकोंमें हाथ, चरण, नाक और भगवन्नामकी भी चर्चा है, पर सतीजीके चरित्रप्रसंगमें उनका सम्बन्ध नहीं आया, इसीसे शिवजीने यहाँ उनकी चर्चा नहीं की। भागवतके श्लोकोंमें इतना ओज नहीं है जितना इन चौपाइयोंमें है। इसका कारण भी शिवजीके हृदयकी 'प्रक्षुब्धतापर दबायी हुई अवस्था' है। आगे (११४। ७) से (११५। ७) तक यह दबान भी उड़ जाती है और प्रक्षुब्ध हृदयकी भावना स्वयं प्रकट हो जाती है। श्रीमद्भागवतमें श्लोकोंके शब्दोंको कुछ फेर-फार करके यहाँ प्रयुक्त करना भी गूढ़भाव-प्रदर्शनार्थ है। रामायणीलोग श्लोकों और चौपाइयोंके शब्दोंका मिलान धात्वर्थके आधारसे कर सकेंगे। मराठी गूढार्थचन्द्रिकामें विस्तारसे लिखा है। (यह अभी प्रकाशित नहीं हुई है।)

## गिरिजा सुनहु राम कै लीला। सुर हित दनुज बिमोहनसीला॥ ८॥

शब्दार्थ—**बिमोहन**=विशेष मोहमें डालनेवाली। **सीला** (शीला। यहाँ यह शब्द विशेषण है)=प्रवृत्त, तत्पर, प्रवृत्तिवाला, स्वभावयुक्त। यथा—*'सकल कहहु संकर सुखसीला।'* (१। ११०। ८), *'कपि जयसील रामबल ताते।'*

अर्थ—हे गिरिजे! सुनो। श्रीरामचन्द्रजीकी लीला देवताओंका हित और दैत्योंको विशेष मोहित करनेवाली है॥ ८॥

नोट—१ इसके जोड़की चौपाइयाँ अयोध्या, अरण्य और उत्तरकाण्डोंमें ये हैं—*'राम देखि सुनि चरित तुम्हारे। जड़ मोहहिं बुध होहिं सुखारे॥'* (२। १२७। ७) *'उमा राम गुन गूढ़ पंडित मुनि पावहिं बिरति। पावहिं मोह बिमूढ़ जे हरिबिमुख न धरम रति॥'* (३ मं०) *'असि रघुपति लीला उरगारी। दनुज बिमोहनि जन सुखकारी॥'* (७। ७३। १) इन उपर्युक्त उद्धरणोंमें जो 'बुध', 'पंडित', 'मुनि' और 'जन' कहे गये हैं वे ही यहाँ 'सुर' हैं और जो उनमें 'जड़', 'विमूढ़', *'हरि बिमुख न धर्म रति'* और 'दनुज' कहे गये हैं वे ही 'दनुज' हैं। अथवा, (७। ७३) में *'दनुज बिमोहनि', 'जन सुखकारी'* कहा और यहाँ *'दनुज बिमोहनसीला'* और *'सुर हित'* कहा; अतएव 'जन' ही 'सुर' हैं। अथवा, चारों स्थलोंमें पृथक्-पृथक् नाम देकर 'सुर, जन (भक्त), बुध, पंडित, मुनि' इन सबोंको सुखकारी जनाया। अथवा, बुध और जनको सुख, पंडित, मुनिको वैराग्य और सुरोंको हितकारी होना कहा। पुनः, गीता और विष्णुधर्मोत्तरमें दो प्रकृतिके प्राणियोंका संसारमें होना कहा गया है, एक दैवी, दूसरी आसुरी। यथा—**द्वौ भूतसर्गौ लोकेऽस्मिन् दैव आसुर एव च।**' (गीता १६। ६) '**द्विविधो भूतसर्गोऽयं दैव आसुर एव च। विष्णुभक्तिपरो दैवो विपरीतस्तथासुरः॥**' (विष्णुधर्मोत्तर) अर्थात् इस लोकमें दो प्रकारके जीवोंका सर्ग (सृष्टि) है, एक दैवी, दूसरी आसुरी। जो विष्णुभक्तिपरायण हैं वे दैवीसर्गसम्भूत हैं और जो उनके विपरीत हैं, वे आसुरी

सर्गसम्भूत हैं।—इसके अनुसार सुर, बुध, पंडित आदिसे दैवी सर्गसम्भूत प्राणिमात्र और दनुज, मूढ़ आदिसे आसुरी सम्पत्तिवाले अभिप्रेत हैं। वैराग्य और सुख होना हित है। आसुरी और दैवी सम्पदावालोंके लक्षण गीता अ० १६ में देखिये।

टिप्पणी—१ (क) यहाँ जन अथवा दैवी सम्पदावाले 'सुर' हैं और दुर्जन अथवा आसुरी सम्पदावाले असुर हैं। (ख) कहना-सुनना और न कहना-सुनना दोनों ऊपर कह आये। अब दोनोंका हेतु लिखते हैं। जो सुर हैं उनका हित होता है, अतः वे कहेंगे-सुनेंगे। जो आसुरी सम्पत्तिवाले हैं उनको श्रीरामलीला मोह उत्पन्न करनेवाली है, अतः वे कथा न कहें-सुनेंगे। (यह सती-चरित्रपर कटाक्ष है, व्यङ्ग है। प० प० प्र०)।

नोट—२ श्रीरामकथा देवताओंको हितकारिणी और दैत्योंको अहितकारिणी है। तात्पर्य यह है कि दैवी सम्पत्तिवाले—सात्त्विक बुद्धिवाले सज्जनोंमें इससे भक्ति, वैराग्य, विवेक आदिकी वृद्धि होती है, उनका लोक-परलोक दोनों बनता है और आसुर सम्पत्तिवालों, राजस-तामस-वृत्तिवालोंमें उसी रामचरितसे मोहकी विशेष वृद्धि होती है, ये शास्त्रोंमें सुनते हुए भी मूढ़ ही बन जाते हैं, ईश्वरको प्राकृत मनुष्य ही कहने लगते हैं। इसपर यह शङ्का हो सकती है कि 'रामलीला वस्तु तो एक ही है, उससे दो विरुद्ध कार्य कैसे ?' समाधान यह है कि जैसे स्वातीजल तो वही होता है, पर उसका बूँद पृथक्-पृथक् वस्तुओंमें पड़नेसे उनमें पृथक्-पृथक् गुण उत्पन्न करता है। देखिये सीपमें पड़नेसे वह मोती बन जाता है, वही केलेमें पड़नेसे कपूर, बाँसमें बंसलोचन, गोकर्ण-(गौके कान-) में पड़नेसे गोरोचन बन जाता है और सर्पमें उसीसे विषकी वृद्धि होती है। (११। ९) देखिये। पुनः देखिये, भगवान् श्रीकृष्णके जिस अद्भुत रूपको अर्जुन देखकर उनकी शरण गये, उसीको दुर्योधनने देखकर उसे नटका खेल कहा—इत्यादि। इसी तरह श्रीरामलीला वस्तु एक ही है, पर पात्रापात्रभेदसे वह भिन्न-भिन्न एवं विरोधी गुणोंको उत्पन्न करती है, 'सुरों' का हित होता है और असुरोंका अहित। यहाँ 'प्रथम व्याघात' अलंकार है।

नोट—३ *'गिरिजा सुनहु'*— यहाँ पार्वतीजीको सम्बोधन करके सुननेको कहनेमें भाव यह है कि शिवजी कथाका पात्रभेदसे भिन्न-भिन्न गुण कहकर श्रीपार्वतीजीको सावधान कर रहे हैं कि देखो फिर लीलासे मोहमें न पड़ जाना, मोहमें पड़ना असुरोंका काम है न कि दैवी सम्पत्तिवालोंका। इसी प्रकार जब अरण्यकाण्डमें पहुँचे तब भी सावधान किया है—*'उमा राम गुन गूढ़……'* । क्योंकि वहाँ तो वही लीला वर्णन की जायगी कि जिससे उन्हें सतीतनमें मोह हुआ था। (वै०)

**दो०—रामकथा सुरधेनु सम सेवत सब सुखदानि।**
**सत[1] समाज सुरलोक सब को न सुनै[2] अस जानि॥ ११३॥**

अर्थ—श्रीरामकथा कामधेनु-समान है, सेवा करनेसे सब सुखोंकी देनेवाली है। संतसमाज समस्त देवलोक हैं, ऐसा जानकर उसे कौन न सुनेगा?॥ ११३॥

नोट—१ *'रामकथा सुरधेनु……'* सुरधेनु=कामधेनु। क्षीरसागर-मन्थनसे निकले हुए चौदह रत्नोंमेंसे यह भी एक है। यह अर्थ, धर्म, कामकी देनेवाली है, जमदग्निजी और वसिष्ठजीके पास इसीकी संतान नन्दिनी आदि थीं।—(३१। ७) 'कामदगाई' देखिये। 'सेवत'—रामकथाकी सेवा उसका पूजनीय भावसे सादर कीर्तन-श्रवण है।

टिप्पणी—१ *'रामकथा सुरधेनु……'* इति। (क) पूर्व *'सुरहित'* कहकर अब उसे (सुरहितको) चरितार्थ करते हैं कि भक्त सुर हैं, रामकथा सुरधेनु है, संतसमाज सुरलोक है। तात्पर्य कि कामधेनु सुरलोकमें है, रामकथा संतसमाजमें है—*'बिनु सतसंग न हरिकथा'*— इससे रामकथाके मिलनेका ठिकाना बताया।

---

१ —संतसभा—वै०, रा०प्र०। संतसमाज—१६६१। 'स' पर अनुस्वार स्पष्ट है, पर हाथसे पोंछा हुआ जान पड़ता है। यह लेखकप्रमाद है क्योंकि इससे छन्दोभंग दोष आता है।

२ —सुनें—१६६१।

जैसे सुरधेनुका ठिकाना सुरलोक है वैसे ही कथाका संतसमाज है। (ख) *'सेवत सब सुखदानि'।* सब सुखोंकी दात्री जानकर दैवी संपदावाले ही सुनते हैं अर्थात् सब सुनते हैं। *'सब सुखदानि'* का भाव कि कामधेनु अर्थ, धर्म और काम तीन पदार्थ देती है और कथा चारों पदार्थ देती है' यदि ऐसा लिखते तो चार ही पदार्थोंका देना पाया जाता, परंतु कथा चारों पदार्थ तो देती ही है और इनसे बढ़कर भी पदार्थ ब्रह्मानन्द, प्रेमानन्द, ज्ञान, वैराग्य, नवधा प्रेमपराभक्तियाँ इत्यादि अनेक सद्गुणोंको भी देनेवाली है, यही नहीं किंतु श्रीरामचन्द्रजीको लाकर मिला देती है। अतएव *'सब सुखदानि'* कहा, पापहरणमें गङ्गासमान और सर्वसुखदातृत्वमें कामधेनु-समान कहा। (*'सब सुखदानि'* अर्थात् सबको, जो भी सेवा करे उसे ही, सब सुखोंकी देनेवाली है।)

प० प० प्र०—सब सुख तो रामभक्तिसे मिलते हैं, यथा—*'सब सुखखानि भगति तैं माँगी। नहिं जग कोउ तोहि सम बड़ भागी॥'* (७। ८५। ३) रामकथा सुरधेनु रामप्रेमभक्ति प्रदान करती है। मानसके उपसंहारमें शिवजीने ही कहा है कि *'रामचरन रति जो चह अथवा पद निर्बान। भाव सहित सो यह कथा करउ श्रवन पुट पान॥'* (७। १२८) *'सुख कि होइ हरि भगति बिनु। बिनु सतसंग न हरिकथा तेहि बिनु मोह न भाग। मोह गए बिनु रामपद होइ न दृढ़ अनुराग ॥'* भाव यह कि सत्संगमें रामकथा श्रवण करनेसे वैराग्य, विमल ज्ञान और पराभक्ति लाभ क्रमशः होते हैं।

नोट—२ रामकथाश्रवण स्वयं रामभक्ति है। इसीसे सब सुख प्राप्त हो जाते हैं। बालकाण्ड दो० ३१ में भी कहा है—*'जीवनमुकुति हेतु जनु कासी', 'सकल सिद्धि सुख संपति रासी', 'रघुबर भगति प्रेम परमिति सी।'*

नोट—३ (क) यहाँ पूर्णोपमा अलंकार है। (ख) सुरतरु, चिन्तामणि और कामधेनु सभी अभिमतके देनेवाले हैं। यहाँ कामधेनुकी उपमा दी, क्योंकि धेनु सर्वत्र पूजी जाती है और श्रीरामकथा भी पूजनीय है, यह दोनोंमें विशेष समता है। पुनः, गौ विचरती है, तरु स्थायी है और चिन्तामणि केवल इन्द्रको प्राप्त है। कथा भी संतसमाजद्वारा सर्वत्र सबको प्राप्त है। (ग) *'सुरलोक सब',* यही पाठ प्रायः सभी प्राचीन पोथियोंमें मिलता है, परंतु 'सब' का ठीक अर्थ न समझकर कुछ टीकाकारोंने 'सब' की ठौर 'सम' पाठ कर लिया है। सुर-लोक=देवताओंके लोक, स्वर्ग। देवलोक बहुत हैं। मत्स्यपुराणमें भूः, भुवः, स्वः, महः, जनः, तपः और सत्यम्—ये सातों लोक देवलोक कहे गये हैं। विश्रामसागर एवं दासबोधमें स्वर्ग इक्कीस कहे गये हैं। वरुण, कुबेरादि अष्ट लोकपालोंके ही आठ लोक हैं। इनके अतिरिक्त नवग्रहोंके लोक भी सुरलोक कहे जाते हैं, इत्यादि। अतएव 'सब' पाठ निस्सन्देह ठीक है। पुनः, लोकका अर्थ समाज भी है। यह अर्थ भी यहाँ ठीक घटित हो सकता है। अर्थात् 'संतसमाज समस्त देवसमाजके समान है'।

नोट—४ *'को न सुनै अस जानि'* इति। (क) श्रीबैजनाथजी लिखते हैं कि 'सभीका इससे हित है—*'सुनहिं बिमुक्त बिरति अरु बिषई। लहहिं भगति गति संपति नई॥'* अर्थात् जीवन्मुक्त पुरुषोंको भक्ति तथा वैराग्यवानोंको मुक्तिका लाभ है और विषयी सम्पत्तिको पाते हैं जिससे उन्हें मोह बढ़ता है।' (ख) इसकी जोड़की चौपाई दोहा (३१। ७) में है—*'रामकथा कलि कामद गाई'* । वहाँ भी देखिये।

वि० त्रि०—विनय करते हुए गिरिजाने कहा कि *'जासु भवन सुरतरु तर होई। सह कि दरिद्रजनित दुख सोई॥'* इसीके उत्तरमें शिवजी कहते हैं कि दरिद्रजनित दुःख सहनेका कोई कारण नहीं। रामकथारूपी सब सुखदानि कामधेनुका सेवन करो। अज्ञानसे ही लोग दुःख सह रहे हैं, नहीं तो रामकथारूपी कामधेनुके रहते दुःखकी कौन-सी बात है?

**रामकथा सुंदर करतारी। संसय बिहग उड़ावनिहारी॥ १॥**
**रामकथा कलि बिटप कुठारी। सादर सुनु गिरिराजकुमारी॥ २॥**

शब्दार्थ—**करतारी**=हाथकी ताली। तारी (ताली)=दोनों हथेलियोंके परस्पर आघातका शब्द।=हथेलियोंको एक-दूसरेपर मारनेकी क्रिया; थपेड़ी। **कलि**=कलियुग।=कलह, पाप, मलिनता। **कुठारी**=कुल्हाड़ी।

अर्थ—श्रीरामकथा हाथकी सुन्दर ताली है जो संशयरूपी पक्षियोंको उड़ानेवाली है॥ १॥ श्रीरामकथा कलिरूपी वृक्ष (को काटने) के लिये कुल्हाड़ी है। हे गिरिराजकुमारी! उसे आदरपूर्वक सुनो॥ २॥

टिप्पणी—१ '***रामकथा सुंदर करतारी***' इति। (क) कथाको '***करतारी***' कहनेका भाव कि—(१) कथा शब्दरूप है और करताली भी शब्द है। (२) रामकथाको ऊपर सुरधेनु और संतसमाजको सुरलोक कहा है, परंतु सुरधेनु और सुरलोक दोनों अगम (दुर्लभ) हैं। कामधेनु सुरलोकमें है, संतसमाज मृत्युलोकमें है और कथारूपिणी कामधेनु संतसमाजमें है—यह सुगमता ऊपर दोहेमें दिखायी गयी। किंतु संतसमाजका मिलना भी तो दुर्लभ है, यथा—'***सतसंगति दुर्लभ संसारा।***' (७। १२३। ६) अतएव '***करतारी***' समान कहकर रामकथाका सबको सुलभ होना जनाया। क्योंकि हाथ सबके होते हैं, ताली बजाना अपने अधीन है। '***करतारी***' अपने पास है, मानो कामधेनु अपने घरमें बँधी है, सभी घर बैठे सुख प्राप्त कर सकते हैं, संतसमाज ढूँढ़नेका कोई प्रयोजन नहीं है। (ख) ['ताली दोनों हाथोंसे बजती है। भवानी, गरुड़ आदि श्रोता और शिष्य बायें हाथके समान हैं और श्रीशिवजी, भुशुण्डिजी आदि वक्ता और गुरु दक्षिण हस्तवत् हैं। प्रश्नोत्तर होना शब्द अर्थात् तालीका बजना है। (पं०) अथवा, मुखसे कथाका वर्णन करना ताली बजना है, नाम और रूप दोनों हाथ हैं, दिव्य गुण अँगुलियाँ हैं, नाम और रूपकी गुणमय कथा '***करतारी***' है। जैसे कि अहल्योद्धारमें उदारता, यज्ञरक्षामें वीरता, धनुर्भङ्गमें बल, खरदूषणादिके वधमें शौर्य, शबरी-गीधपर अनुकम्पा और सुग्रीवपर करुणा इत्यादि गुण सुननेसे संशय आप ही चले जाते हैं। (वै०)] (ग) '***करतारी***' को सुन्दर कहनेका भाव कि तालीके शब्दसे कथाका शब्द सुन्दर है, क्योंकि यह भगवत्-यश आदि अनेक गुणोंसे परिपूर्ण है और वह ध्वन्यात्मक है।[पुनः, भाव कि वक्ता और श्रोता दोनों सुन्दर अर्थात् ज्ञानी-विज्ञानी हों, जब ऐसे वक्ता-श्रोता परस्पर श्रीरामकथा कहते-सुनते हैं तब उनके शब्द सुनकर सब जीवोंके संशयरूपी पक्षी उड़ जाते हैं। (शीलावृत्त)]

टिप्पणी—२ '***संसय बिहग उड़ावनिहारी***' इति। (क) श्रीपार्वतीजीने प्रार्थना की थी कि '***अजहूँ कछु संसय मन मोरें। करहु कृपा बिनवौं कर जोरें॥***' (अर्थात् कुछ संशय अब भी बना रह गया है); इसी वाक्यके सम्बन्धसे शिवजी यहाँ कहते हैं कि रामकथा संशयको उड़ा देनेवाली है। (ख) 'संशय' को विहंग कहनेका भाव कि जैसे पक्षी वृक्षपर आते, बैठते और तालीका शब्द करनेसे अर्थात् हाँकनेसे उड़ जाते हैं, वैसे ही अनेक संशय जो आते (उत्पन्न होते) हैं। वे कथा सुननेसे चले जाते हैं।[(ग) जैसे ताली बजानेके साथ-साथ लोग हल्ला मचाते हैं, लगे-लगे कहते हैं, तब पक्षी उड़ता है, वैसे ही कथा जब कहे-सुने और उसमें लगे अर्थात् उसे धारण करेगा तब संशय-पक्षी भागेगा, अन्यथा नहीं। (खर्रा) पुनः, भाव कि चिड़िया उड़ानेका सुगम उपाय यही है कि बैठे-बैठे ताली बजा दे, चिड़ियाँ स्वयं उड़ जायँगी। इसी भाँति कथा आरम्भ कर दे, संशय आप ही भाग जायगा। (वि० त्रि०)]

मा० म०—'***सम श्रोता वक्ता बजै तारी चुटकी नून। नेह कथा रघुनंद को तारी हुटकी ऊन॥***' अर्थात् जहाँ श्रोता-वक्ता समान हों वहाँ मानो ताली बजती है और जहाँ दोमेंसे एक भी न्यून हुआ वहाँ मानो चुटकी बजती है। परंतु चुटकीसे संशय-पक्षी भागता नहीं और जो इससे भी न्यून हुआ तो उसको केवल हाथ ही हिलाना जानो।

नोट—१ संशय पक्षी है जो खेतका अन्न और वृक्षोंके फल खाता है, रखवाले उसे हाँकते हैं, इत्यादि। यहाँ खेत या वृक्ष, अन्न और फल, किसान; रखवाले और पक्षी आदि क्या हैं? उत्तर—यहाँ तन खेत वा वृक्ष है। श्रीरामभक्ति श्रीरामसम्मुखता, श्रीरामप्रेम आदि अन्न और फल हैं। जीव किसान है। गुरु, आचार्य, संत, वक्ता रखवाले हैं; यथा—'***जे गावहिं यह चरित सँभारे। तेइ येहि ताल चतुर रखवारे॥***' (३८। १) ये राजकुमार हैं तो ब्रह्म कैसे? ब्रह्म हैं तो स्त्रीवियोगमें बावले क्यों हो रहे थे? एक तुच्छ राक्षसने उन्हें नागपाशमें बाँध कैसे लिया? इत्यादि संशय पक्षी हैं जो जीवके श्रीरामसम्मुखता आदि अन्न वा फलको खाते हैं। आचार्योंके मुखसे जो कथाका वर्णन होता है वही थपोड़ी शब्द है, जिससे संशय उड़ जाते हैं। (वै०)

नोट—२ '***रामकथा कलि बिटप कुठारी***' इति। (क) श्रीरामकथाको प्रथम संशयरूपी पक्षीको उड़ानेके लिये 'करताली' कहा। रामकथा करतालीने संशय-पक्षियोंको उड़ा तो दिया, परंतु जबतक उनके बैठनेका

आधार वा अड्डा 'विटप' बना हुआ है तबतक वे वहाँसे सर्वतः जाते नहीं, उड़े और फिर आ बैठे। अतएव पक्षीको उड़ाना कहकर अब उसके आधारको जड़से काट डालना भी कहा। न वृक्ष रहेगा, न पक्षी उसपर बैठेगा। इस तरह भाव यह हुआ कि श्रीरामकथा संशय-पक्षीको उड़ाकर फिर उसके बैठनेके स्थान (संशयके स्थान) कलि-विटपका भी नाश करती है। (ख) कलिको विटप कहनेका भाव कि पक्षी वृक्षपर आते हैं और संशय कलिमें आते हैं। अर्थात् संशय मलिन बुद्धिमें होते हैं, दिव्य बुद्धिमें नहीं। (पं० रा० कु०) संशयका आधार मनकी मलिनता है जो पापोंका मूल है। संशय मलिन मनमें ही बसेरा लेते हैं; यथा—*'तदपि मलिन मन बोधु न आवा।'* (१०९। ४) कलिका स्वरूप भी मल-मूल-मलिनता ही है, यथा—*'कलि केवल मल मूल मलीना'*; इसीसे *'कलि'* को *'बिटप'* कहा। कलिका अर्थ मलिनता वा पाप भी है। (ग) बैजनाथजी *'कलि बिटप'* का रूपक यों देते हैं कि यहाँ कलि वृक्ष है, कुसङ्ग उसका मूल है, कुमति अङ्कुर है। पापकर्म शाखा, पल्लवादि हैं और दुःख फल है। रामकथा कुल्हाड़ी है। 'आचार्य लोहाररूप धातु नाम गढ़नि, गुण धार, युक्ति बेंट, वक्ता बढ़ई' और वचन प्रहार है।—(सूक्ष्म रीतिसे केवल इतनेसे काम चल जाता है। कलि वृक्ष, कथा कुल्हाड़ी, वक्ता-काटनेवाला, वचन-प्रहार)। (घ) संशयमें बिहंगका और कलिमें वृक्षका आरोपण 'सम अभेद रूपक' है। एक रामकथाकी समता पृथक्-पृथक् धर्मोंके लिये करताली और कुल्हाड़ीसे देना 'मालोपमा अलंकार' है। दोनोंकी संसृष्टि है। (वीर)

टिप्पणी—३ *'सादर सुनु……'* इति। ☞श्रीरामचरित आदरपूर्वक सुनना चाहिये। यथा—
*'सादर कहहिं सुनहिं बुध ताही। मधुकर सरिस संत गुन ग्राही॥'* (१। १०। ६)
*'सबहि सुलभ सब दिन सब देसा। सेवत सादर समन कलेसा॥'* (१। २। १२)
*'सदा सुनहिं सादर नर नारी। तेइ सुरबर मानस अधिकारी॥'* (१। ३८। २)
*'राम सुकृपाँ बिलोकहिं जेही॥ सोइ सादर सर मज्जन करई।……॥'* (१। ३९। ५-६)
*'सादर मज्जन पान किए तें। मिटहिं पाप परिताप हिए तें॥'* (१। ४३। ६)
*'कहौं कथा सोइ सुखद सुहाई। सादर सुनहु सुजन मन लाई॥'* (१। ३५ तुलसी)
*'तात सुनहु सादर मन लाई। कहहुँ राम कै कथा सुहाई॥'* (याज्ञवल्क्य १। ४७। ५)
*'कहौं राम गुन गाथ भरद्वाज सादर सुनहु।'* (याज्ञवल्क्यजी १। १२४)
*'सब निज कथा कहउँ मैं गाई। तात सुनहु सादर मन लाई॥'* (भुशुण्डीजी ७। ९५। ४) तथा यहाँ *'सादर सुनु गिरिराजकुमारी।'*

नोट—३ (क) उपर्युक्त उद्धरणोंसे स्पष्ट है कि चारों वक्ताओंने अपने-अपने श्रोताओंको सादर सुननेके लिये बराबर सावधान किया है। (ख) *'सादर सुनु'* का भाव कि पापका नाश तथा संशयकी निवृत्ति एवं बुद्धिकी मलिनताका सर्वतः अभाव तभी होगा जब कथा सादर सुनी जायगी और सादर श्रवण तभी होता है जब उसमें श्रद्धा हो। कथा ओषधि है, श्रद्धा उसका अनुपान है। यथा—*'अनूपान श्रद्धा अति रूरी।'* (७। १२२। ७) इसीसे रामकथा सादर सुननेकी परम्परा है। (ग) ☞यहाँतक कथाका माहात्म्य कहा और कथाके अधिकारी तथा अनधिकारी बताये। इस प्रसङ्गका उपक्रम *'धन्य धन्य गिरिराजकुमारी।'* (११२। ६) है और *'सादर सुनु गिरिराजकुमारी'* उपसंहार है। (घ) ☞संशय दूर करके कथा कहनेकी रीति है। यथा—*'एहि बिधि सब संसय करि दूरी। सिर धरि गुर पद पंकज धूरी॥……करत कथा जेहि लाग न खोरी।'* (१। ३४)

**राम नाम गुन चरित सुहाए। जनम करम अगनित श्रुति गाए॥ ३॥**
**जथा अनंत राम भगवाना। तथा कथा कीरति गुन गाना॥ ४॥**

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजीके नाम, गुण, चरित, जन्म और कर्म (सभी) सुन्दर और अगणित हैं, ऐसा वेदोंने कहा है॥ ३॥ जैसे भगवान् श्रीरामजीका अन्त नहीं, वैसे ही उनकी कथा, कीर्ति और गुण भी अनन्त हैं॥ ४॥

नोट—१ नाम, जैसे कि राम, रघुनन्दन, अवधविहारी, हरि आदि। गुण, जैसे कि उदारता, करुणा, कृपा, दया, भक्तवत्सलता, ब्रह्मण्य, शरणपालत्व, अधम-उधारण आदि। चरित, जैसे बालचरित, यशकीर्ति-

प्रतापादिका जिनमें वर्णन ऐसे धनुर्भंग-युद्धादि चरित। जन्म, जैसे कि मत्स्य, कच्छप, नृसिंह, कृष्ण, वराह आदि असंख्यों अवतार लेना। कर्म, जैसे कि वेद-धर्म-संस्थापन आदि। (पं०, वै०)

टिप्पणी—१ *'राम नाम गुन चरित……'* इति। (क) नाम, गुण, चरित, जन्म और कर्म आदिको यहाँ गिनाकर तब कथा कहनेका भाव यह है कि जो कथा हम कहते हैं उसमें श्रीरामनाम, श्रीरामगुण, श्रीरामचरित, श्रीरामजन्म और श्रीरामकर्म ये सभी हैं और सभी सुहाये हैं।[मा० त० वि० कार लिखते हैं कि 'नाम, गुण आदि पाँच गिनाये, मानो पञ्चाङ्गरूपको श्रुतियोंने अगणित भेद करके गाया है'] (ख) [नाम, गुण आदि सभी अनन्त हैं। यथा—*'महिमा नाम रूप गुन गाथा। सकल अमित अनंत रघुनाथा॥'* (७। ९१। ३), *'राम अनंत अनंत गुनानी। जनम करम अनंत नामानी॥ ……रघुपति चरित न बरनि सिराहीं।'* (७। ५२। ३-४)] (ग) *'श्रुति गाए'* यथा—*'जे ब्रह्म अजमद्वैतमनुभवगम्य मनपर ध्यावहीं। ते कहहु जानहु नाथ हम तव सगुन जस नित गावहीं॥'* (७। १३) *'श्रुति गाए'* कथनका भाव कि सब प्रामाणिक हैं। भगवान्के जन्म, कर्म सब दिव्य हैं और असंख्य हैं। यथा—**'जन्मकर्म च मे दिव्यम्'** (गीता ४। ९), **'अवतारा ह्यसंख्येया हरेः सत्त्वनिधेर्द्विजाः।'** (भागवत १। ३। २६) *'जथा अनंत राम भगवाना।……'* इति। भाव कि जैसे श्रीरामजी भगवान् (षडैश्वर्ययुक्त) हैं वैसे ही उनके चरित आदि ऐश्वर्यसे भरे हुए हैं; जैसे श्रीरामजीका अन्त नहीं मिलता वैसे ही कथा आदिका भी अन्त नहीं मिलता। [पं० रामकुमारजीने यह अर्थ किया है। पर प्रायः लोग वही अर्थ करते हैं जो ऊपर दिया गया।]

नोट—२ *'जथा अनंत………'* इति। यथा—**'नान्तं विदाम्यहममी मुनयोऽग्रजास्ते मायाबलस्य पुरुषस्य कुतोऽपरे ये। गायन् गुणान् दशशतानन आदिदेवः शेषोऽधुनापि समवस्यति नास्य पारम्॥'** (भा० २। ७। ४१) अर्थात् उन पुराणपुरुषके मायाबलका अन्त न तो मैं ही जानता हूँ और न तुम्हारे अग्रज समस्त (सनकादि) मुनि ही जानते हैं। आदिदेव शेषभगवान् अपने हजार मुखोंसे नित्यप्रति उनका गुणगान करते हुए भी अबतक पार न पा सके। तब और जीव किस गिनतीमें हैं।

३ वे० भू० जी—*'भगवाना'* इति। यह शब्द जीवविशेष और परमात्माके लिये भी शास्त्रोंमें व्यवहृत हुआ है, जिसका कारण यह है कि *'भग'* शब्दसे बहुत-से अर्थोंका ग्रहण किया जाता है। सब शब्दोंमें साधारण और असाधारण दो भेद होते हैं। जो शब्द किसी एकके लिये ही प्रयुक्त किया जा सके, दूसरेमें उसका समावेश न हो उसे असाधारण कहते हैं और जिस शब्दका प्रयोग बहुतोंमें होता है उसे साधारण कहा जाता है। इसलिये असाधारण *'भग'* (ऐश्वर्य) केवल परमात्मामें ही व्यवहृत हो सकता है और साधारणका व्यवहार जीवविशेष, जैसे कि देवताओं और महर्षियों आदिमें करके उन्हें भी भगवान् शब्दसे विशेषित किया गया है। असाधारण भग ये हैं, ज्ञान, शक्ति, बल, ऐश्वर्य, तेज, वीर्य, पोषणत्व, भरणत्व, धारणत्व, शरण्यत्व, सर्वव्यापकत्व और कारुण्यत्व आदि। यथा—**'ज्ञानशक्तिबलैश्वर्यतेजोवीर्याण्यशेषतः। भगवच्छब्दवाच्यानि विना हेयैर्गुणादिभिः॥ पोषणं भरणाधारं शरण्यं सर्वव्यापकम्। कारुण्यं षड्भिः पूर्णो रामस्तु भगवान् स्वयम्॥'** (तत्त्वत्रयभाष्य १-२) इन श्लोकोंमें कहे हुए ऐश्वर्य केवल परमात्माहीके गुण हैं, इसलिये ये असाधारण हुए। साधारण भग ये हैं—**'ऐश्वर्यस्य समग्रस्य धर्मस्य यशसः श्रियः। ज्ञानवैराग्ययोश्चैव षण्णां भग इतीरणा॥ उत्पत्तिं प्रलयञ्चैव जीवानामागतिं गतिम्। वेत्ति विद्यामविद्याञ्च स वाच्यो भगवानिति॥'** (वि० पु० ६। ५। ७४, ७८) इन श्लोकोंमें कही हुई बातोंके प्राप्त एवं जाननेवालोंको भी भगवान् कहा जाता है और ये सब साधनोंसे प्राप्त एवं ज्योतिष यथा दर्शनोंसे जानी जाती हैं। इसलिये शास्त्रज्ञों, लौकिक ऐश्वर्यशालियों तथा देवताओंको भी भगवान् शब्दसे विशेषित किया जाता है। इन श्लोकोंमें कहे गये भग परमात्मा तथा जीव-विशेषमें भी रहनेसे ये साधारण भग हुए। यही कारण है कि कहीं-कहीं ब्रह्मा, शिव और इन्द्रादि देवताओंको तथा नारद-वसिष्ठादि महर्षियोंको भी अभियुक्तोंने भगवान् शब्दसे विशेषित किया है।

**तदपि जथा श्रुत जसि मति मोरी। कहिहौं देखि प्रीति अति तोरी॥५॥**

शब्दार्थ—**तदपि**-तथापि; तो भी। **जथा श्रुत**=सुना हुआ। (१०५। ३-४) देखिये।

अर्थ—तो भी तुम्हारी अत्यन्त प्रीति देखकर मैं कहूँगा, जैसा कुछ मैंने सुना है और जैसी कुछ मेरी बुद्धि है॥ ५॥

टिप्पणी—१ *'तदपि जथा श्रुत······॥'* ☞ अभिमानरहित बोलना उत्तम वक्ता पुरुषोंकी रीति है। इसीसे सभी वक्ताओंने 'दूसरोंसे सुनी हुई' और 'मति-अनुसार' कहा है। (क) *'जथा श्रुत'*, यथा-(१) गोस्वामीजी—*'मैं पुनि निज गुर सन सुनी कथा सो·········॥'* (३०)······*'भाषाबद्ध करबि मैं सोई।'* (२) याज्ञवल्क्यजी—*'तदपि जथा श्रुत कहौं बखानी।'* (१०५। ४) (३) भुशुण्डिजी—*'संतन्ह सन जस किछु सुनेउँ तुम्हहि सुनायउँ सोइ।'* (७। ९२) तथा यहाँ शिवजी *'जथा श्रुत'* कहते हैं (ख) *'जसि मति मोरी'* (मति-अनुसार); यथा—(१) *'करइ मनोहर मति अनुहारी।'* (तुलसीदासजी ३६। २) (२) *'कहौं सो मति अनुहारि अब······।'* (१। ४७), *'रघुपति कृपा जथा मति गावा। मैं यह पावन चरित सुहावा॥'* (याज्ञवल्क्यजी ७। १३०। ४) (३) *'निज मति सरिस नाथ मैं गाई।'* (७। ९१। १) *'कहेउँ नाथ हरि चरित अनूपा। ब्यास समास स्वमति अनुरूपा॥······नाथ जथामति भाषेउँ राखेउँ नहिं कछु गोइ।'* (भुशुण्डीजी ७। १२३) (४) *'मति अनुरूप* निगम अस गावा।' (वेद १। ११८) (५) *'निज निज मति मुनि हरि गुन गावहिं। निगम सेष सिव पार न पावहिं॥'* (७। ९१। ४) वैसे ही शिवजी भी निरभिमानके वचन कह रहे हैं।

नोट—१ *'जथा श्रुत जसि मति······'* के और भाव—(क) वेदोंने भी इनका वर्णन करके पार न पाया, वे *'नेति नेति'* कहते हैं, 'इति' नहीं लगा पाते, और किसीकी भी बुद्धि वहाँतक नहीं पहुँच सकी, फिर भला और किसीकी क्या सामर्थ्य कि कहे! इसलिये जैसा कुछ हमने सुना-समझा है वह कहता हूँ। (ख) श्रीपार्वतीजीने शिवजीको 'भगवान्', 'समर्थ' आदि विशेषण देकर तब उनसे प्रश्न किये और कथा पूछी है; यथा—*'सिव भगवान ज्ञान गुन रासी'*, *'प्रभु समर्थ सर्बग्य सिव सकल कला गुन धाम।'*, *'जोग ज्ञान वैराग्य निधि प्रनत कल्पतरु नाम'*, *'तुम्ह त्रिभुवन गुरु बेद बखाना।'* इसीपर उनका इशारा है। वे कहते हैं कि यह सब ठीक है, पर भगवान् रामचन्द्रजी और उनके चरित इत्यादि अनन्त हैं, हम इतने समर्थ होनेपर भी उनका वर्णन यथार्थ नहीं कर सकते। (ग) इन शब्दोंसे अपने वाक्यको प्रमाणित कर दिखा रहे हैं। अर्थात् यदि उनका अन्त मिल सकता तो हम सब जानते ही होते और कह भी सकते। (घ) *'जथा श्रुत'* कहकर तब *'जसि मति मोरी'* कथनका भाव कि जो कुछ हमने सुना है वह भी सब-का-सब और यथार्थ मैं नहीं कह सकता, जहाँतक मेरी बुद्धिकी पहुँच है वहींतक कह सकूँगा। इससे यह भी जनाया कि सुना बहुत है, इतना ही नहीं कि जितना कहता हूँ। (ङ) अनन्त वस्तुके कथनमें यही होता है कि वह यथाश्रुत और यथामति कहा जाता है।

टिप्पणी—२ *'कहिहौं देखि प्रीति अति तोरी'* इति। ☞ यह कथाका उपक्रम है। इसका उपसंहार *'तव मन प्रीति देखि अधिकाई। तब मैं रघुपति कथा सुनाई॥'* (७। १२८। २) पर है। (ख) *'प्रीति अति'*—[श्रीपार्वतीजीने पूर्व कथा-श्रवण-हेतु तीन अधिकारी गिनाये हैं—(१) जो मन, कर्म, वचनसे वक्ताका दास हो। (२) जो अति आर्त्त हो और (३) जो वक्ताका कृपापात्र हो। इन तीनोंमेंसे *'अति आर्त्त'* होना ही *'अति प्रीति'* है, इसीको शिवजीने ग्रहण किया। अतएव जो पार्वतीजीने कहा है कि *'अति आरति पूछौं सुरराया। रघुपति कथा कहहु करि दाया॥'* यही *'अति प्रीति'* है, जिसका देखना शिवजी कह रहे हैं](ग) अति प्रीति देखकर तब कथा कहने-सुनानेका भाव कि कथा, कीर्त्ति, गुण आदि गुह्य (गोपनीय) थे, अति प्रीति देखकर प्रकट किये गये। ☞ उपसंहार भी *'तव मन प्रीति देखि·····'* पर करके शिवजी उपदेश कर रहे हैं कि जिसकी श्रीरामकथामें अत्यन्त प्रीति हो उसीको कथा सुनानी चाहिये, प्रीतिरहितको कदापि न सुनावे। इसी प्रकार श्रोताको चाहिये कि पहले अपनेको 'अति आर्त्त अधिकारी' बना ले, तब प्रश्न करे, तो फिर *'गूढ़ौ तत्त्व न साधु दुरावहिं।'* (घ) श्रीशिवजी इन चौपाइयों और शब्दोंसे कथाका प्रारम्भ करते हैं और अन्तमें इन्हीं शब्दोंसे कथाकी समाप्ति करेंगे।—

| उपक्रम | उपसंहार |
|---|---|
| *'जथा अनंत राम भगवाना। तथा कथा कीरति गुन नाना॥* | १ *'राम अनंत अनंत गुनानी। जनम करम अनंत नामानी॥'* (७। ५२) |
| *रामनाम गुन चरित सुहाये। जनम करम अगनित स्रुति गाये॥'* | *स्रुति सारदा न बरनइ पारा।* |
| *'जसि मति मोरी'* | २ *मैं सब कही मोरि मति जथा* (उ० ५२) |
| *'कहिहउँ देखि प्रीति अति तोरी'* | ३ *तव मन प्रीति देखि अधिकाई।.....'* |

**उमा प्रश्न तव सहज सुहाई। सुखद संत संमत मोहि भाई॥ ६॥**
**एक बात नहिं मोहि सोहानी। जदपि मोह बस कहेहु भवानी॥ ७॥**
**तुम्ह जो कहा राम कोउ आना। जेहि श्रुति गाव धरहिं मुनि ध्याना॥ ८॥**

शब्दार्थ—**संत संमत**=संत **अनुमत**=जिसमें संत भी सहमत हों। **सम्मत**=सहमत, अनुमत, अनुमोदित। =अनुमति। **भाई**=अच्छी लगी। (गोस्वामीजी **'प्रश्न'** को स्त्रीलिङ्ग मानते हैं, इसीसे उसीके अनुसार **'भाई'** क्रिया दी है।)

अर्थ—'हे उमा! तुम्हारे प्रश्न स्वाभाविक ही सुन्दर, सुख देनेवाले और संतसम्मत हैं (अतएव) मुझे भी भाये॥ ६॥ (परंतु) हे भवानी! मुझे एक बात अच्छी नहीं लगी, यद्यपि तुमने मोहवश ही ऐसा कहा (अथवा, यद्यपि तुमने अपनेको मोहके वशमें होना कहा है)॥ ७॥ तुमने जो यह कहा कि 'वे राम कोई और हैं जिन्हें वेद गाते हैं और जिनका ध्यान मुनिलोग करते हैं'॥ ८॥

टिप्पणी—१ ***'उमा प्रश्न......'*** इति। (क) ***'संत संमत'*** अर्थात् छलरहित हैं; यथा—***'प्रश्न उमा के सहज सुहाई। छल बिहीन सुनि सिव मन भाई॥'*** (१। १११। ६)—[इन दोनों चौपाइयोंमें एक ही बात कही गयी है।' (१११। ६) में ***'सहज सुहाई'*** और ***'छल बिहीन'*** होनेसे ***'मन भाई'*** कहा था और यहाँ ***'सहज सुहाई', 'सुखद संत संमत'*** होनेसे ***'मन भाई'*** कहा है। इस प्रकार ***'सुखद संत संमत'*** से ***'छल बिहीन'*** का अर्थ ग्रहण कराया गया। (ख) ***'सहज सुहाई'*** के भाव (१११। ६) में देखिये। बैजनाथजी लिखते हैं कि प्रश्न सहज सुन्दर हैं क्योंकि रामतत्त्व-विषयक हैं, इसीसे सबको 'सुखद' हैं। संतसम्मत हैं क्योंकि परमार्थ-साधक हैं; इसीसे मुझे भाये।]

वि० त्रि०—प्रश्नकी प्रशंसा करते हैं। ***'जौं नृप तनय त ब्रह्म किमि'*** यह प्रश्न बहुत सुन्दर है और इसमें स्वाभाविकता है। ऐसे मार्मिक प्रश्नके उत्तरमें वक्ताको भी सुख होता है। संतोंकी भी यही सम्मति है कि प्रकृत जिज्ञासुकी यथार्थ जिज्ञासाका उत्तर देना चाहिये। शुष्क तर्ककी प्रतिष्ठा नहीं है। बलवान् तार्किक निर्बलको दबा लेता है और जो उससे भी बड़ा तार्किक है वह उसके तर्कका भी खण्डन कर देता है, अतः शास्त्रकी मर्यादाके भीतर-भीतर तर्क होना चाहिये। तुम्हारा तर्क शास्त्रके भीतर है, शास्त्रके समझनेके लिये है।

टिप्पणी—२ (क) ***'एक बात नहिं......'*** भाव कि और सब बातें सुन्दर, सुखद और संतसम्मत हैं, केवल एक ही बात असुन्दर, दुःखद और साधु-असम्मत है; इसीसे वह हमें नहीं अच्छी लगी, अन्य सब अच्छी लगी। [(ख) यहाँपर यह दिखाया है कि रोचक और भय तुल्य होने चाहिये, तभी जिज्ञासुका कल्याण होता है। यदि संकोचवश रोचक-ही-रोचक कहे तो ठीक नहीं और यदि अपनी उत्कृष्टता दिखानेके लिये बहुत ही भय या ताना दे तो वह भी उचित नहीं। वक्ताओंको यह नीति स्मरण रखनी चाहिये। इसी विचारसे श्रीशिवजीने प्रथम पार्वतीजीकी प्रशंसा की, उनके प्रश्नोंको सुन्दर, सुखद, संतसम्मत कहा और तब यह कहा कि ***'एक बात नहिं मोहि सोहानी'।*** (बाबा रामदासजी, पं० रा० प०) पुनः ***'नहिं मोहि सोहानी'*** का भाव कि एक प्रश्न जो संतसम्मत नहीं है वह भवानीके मुखसे निकलना न चाहिये था, ऐसा प्रश्न उमा (=महेशकी लक्ष्मी) को लाञ्छनास्पद है। जो प्रश्न शिवजीको अप्रिय लगा उससे उनके

हृदयमें क्रोधका प्रादुर्भाव हुआ है और वे पार्वतीजीको फटकारना चाहते हैं, पर वे भयभीत न हो जायँ, इसलिये सामान्यरूपसे कहेंगे। (प० प० प्र०)] (ग) *'जदपि मोह बस कहेहु'* अर्थात् पक्षपात करके नहीं कही गयी तब भी हमें अच्छी नहीं लगी। ☞ यह बात शिवजीको यहाँतक असह्य हुई कि उनसे रहा न गया, उन्होंने उसे कह ही डाला। वह कौन एक बात है सो आगे कहते हैं। (घ) पूर्व दोहा १०८ में श्रीपार्वतीजीने तीन बातें कहीं। (श्रीरामपरत्वके तीन प्रमाण दिये)—(१) *'प्रभु जे मुनि परमारथ बादी। कहहिं राम कहुँ ब्रह्म अनादी॥'* (२) *'सेस सारदा बेद पुराना। सकल करहिं रघुपति गुन गाना॥'*, (३) *'तुम्ह पुनि राम राम दिन राती। सादर जपहु अनँग आराती॥'* और अन्तमें कहा *'राम सो अवध नृपतिसुत सोई। की अज अगुन अलख गति कोई॥'* यह अन्तिम बात है। *'की अज अगुन·····'* ही वह बात है जो न सुहाई। *'तुम्ह जो कहा राम कोउ आना'* के *'कोउ आना'* का और *'की·····कोई'* का एक ही अर्थ है। शिवजीको यह बात कितनी दुःखद और नापसन्द (अरुचिकर) एवं असह्य हुई, यह उनके उत्तरके शब्दोंकी स्थितिसे झलक रही है। उन्होंने पार्वतीजीकी तीन बातोंमेंसे दोको *'राम कोउ आना'* के साथ कहा। (अर्थात् *'राम कोउ आना'* कहकर उसी अर्धालीके दूसरे चरणमें *'जेहि श्रुति गाव धरहिं मुनि ध्याना'* इन दो बातोंका वा प्रमाणोंको कहा, अपनेको न कहा)। *'राम कोउ आना'* के साथ अपना नाम नहीं रखा—

| पार्वतीजीका प्रश्न | श्रीशिवजीका उत्तर |
|---|---|
| *'सेस सारदा बेद पुराना। सकल करहिं रघुपति गुन गाना'* | १ *'जेहि श्रुति गाव'* |
| *'प्रभु जे मुनि परमारथ बादी।'* | २ *'धरहिं मुनि ध्याना'* |
| *'तुम्ह पुनि राम राम दिन राती।'* | ३ इसका उत्तर नहीं दिया। |

*'राम कोउ आना'* के साथ अपना नाम न देकर जनाया कि दाशरथी श्रीरामजीके अतिरिक्त किसी अन्य रामके साथ हमारा नाममात्र भी नहीं है, अन्य रामके प्रतिपादनमें हमारा किञ्चित् कहीं भी सम्बन्ध नहीं है। ☞ यह शिवसिद्धान्त है। जहाँ अन्य रामका प्रतिपादन हो वहाँ हमारे सम्बन्धकी कौन कहे वहाँ तो हमारा नाम भी नहीं सुना जायगा।

वि० त्रि०-आँखें तो बहुतोंको हैं, पर सभी रत्नकी पहचान नहीं सकते, उन्हें शीशेमें और रत्नमें भेद नहीं मालूम पड़ता, उस भेदको तो केवल जौहरीकी आँखें देखती हैं। अतः रत्नका ग्रहण दो-एक रात्निकोंको दिखाकर, सत्-तर्कद्वारा श्रद्धा करके ही संसार करता है। जो अभागा रात्निकोंपर कुतर्कके बलसे श्रद्धा नहीं करता, वह सदा रत्नसे वञ्चित रहता है। इसी भाँति राम ब्रह्म हैं या नहीं, इसका निर्णय सामान्य पुरुष नहीं कर सकता। इस बातके जौहरी परमार्थवादी मुनि और शेष-शारदादि हैं, उनके वचनपर सत् कर्मद्वारा श्रद्धा करना ही प्राप्त है।

शिवजीका कहना है कि जब तुम स्वयं कहती हो कि *'प्रभु जे मुनि परमारथवादी। कहहिं राम कहुँ ब्रह्म अनादी॥ सेष सारदा बेद पुराना। सकल करहिं रघुपति गुन गाना॥ तुम्ह पुनि राम राम दिन राती। सादर जपहु अनँग आराती॥'* तब तुमने कुतर्कका आश्रय करके इनके वचनोंमें अश्रद्धा क्यों की? ये लोग जब कहते हैं कि ये वही राम हैं, जिनका वेद गुणगान करता है और मुनि ध्यान धरते हैं, तब तुम्हारे मनमें *'राम कोउ आना'* की भावना कैसे उठी? जिसे विशेषज्ञ महात्मा एक स्वरसे कहें उस विषयमें भी संशयको बनाये रखना, यह मोहकी छाया है। यही बात मुझे भी अच्छी न लगी। इस प्रकारकी धारणा तो हरिविमुखोंको होती है, जिनका उल्लेख ऊपर किया जा चुका है। अब उन्हीं हरिविमुखोंकी भर्त्सना पार्वतीजीका भ्रम मिटानेके लिये शिवजी क्रमसे करते हैं।

वै०—*'मोह बस कहेहु'* = तुमने अपने मनको मोहके वश होना कहा है। इस अर्थमें भाव यह है कि इस कथनसे तुम निर्दोष ठहरती हो, मोहवश होनेसे मनुष्य ऐसा कह सकते हैं। शिवजी पार्वतीजीको वचन-दण्ड दे रहे हैं, उनके कथनका अभिप्राय यह है कि तुम कहती हो कि अब पहला-सा विमोह

नहीं किंतु कुछ ही है, अज्ञ जानकर रुष्ट न हूजिये, अब कथा सुननेकी रुचि मुझको है। सो कथा सुननेके लिये तो तुमको मोह नहीं और श्रीरामरूपमें संदेह करनेके लिये मोह है, यद्यपि उनका प्रभाव तुमने भली प्रकार देख लिया है।

जैसे एक बने हुए मतवालेने राजाको गालियाँ दीं। उसके नौकरोंने उसे दण्ड देना चाहा तो राजाने रोक दिया कि वह तो पागल है, अपने होशमें नहीं है, ऐसेको दण्ड देना उचित नहीं। वह और भी शेर हुआ, अधिक गालियाँ देता हुआ आगे चला, जहाँ नदीमें प्रवेश कर पार जाना पड़ता था। वहाँ उसने अपनी जूती उतारकर हाथमें ले ली। तब राजाने उसको दण्ड देनेकी आज्ञा दी और कहा कि गालियाँ देनेके लिये तुझे होश न था और जूती बचानेका होश है! वैसे ही यहाँ शिवजी कहते हैं कि हमारे विचारमें तुम्हें मोह नहीं है, तुमने जान-बूझकर ऐसा प्रश्न किया है इसीसे मुझे यह बात नहीं सुहायी।

नोट—*'भवानी'* सम्बोधनका भाव कि तुम तो भवपत्नी हो, हमसे सम्बन्ध रखनेवालेको ऐसा कदापि न कहना चाहिये था। यही मुझे दुःखी कर रहा है।

**दो०—कहहिं सुनहिं अस अधम नर ग्रसे जे मोह पिसाच।**
**पाषंडी हरि पद बिमुख जानहिं झूठ न साच॥ ११४॥**

शब्दार्थ—**ग्रसना**=बुरी तरह पकड़ना; ऐसा पकड़ना कि छूट न पावे। **झूठ**=वह बात जो यथार्थ न हो। 'झूठ-साँच कुछ नहीं जानते' यह बोली है, मुहावरा है अर्थात् वे झूठ और सत्यमें फर्क नहीं निकाल सकते, उसका विवेचन नहीं कर सकते।

अर्थ—ऐसा अधम मनुष्य कहते हैं, जिन्हें मोहरूपी पिशाचने ग्रस लिया है, जो पाखण्डी हैं, हरिपदविमुख हैं और झूठ-सच कुछ नहीं जानते*॥ ११४॥

टिप्पणी—१ (क) *'कहहिं सुनहिं अस अधम·····'* भाव कि न तो ऐसा कहना ही चाहिये और न सुनना ही। *अधम*=अधर्मी। अधर्मी हैं अर्थात् कर्म (कर्मकाण्ड) रहित हैं। *'ग्रसे जे मोह पिसाच'* मोह-पिशाचने ग्रस लिया है अर्थात् ज्ञान (ज्ञानकाण्ड) रहित हैं। 'हरिपदविमुख' हैं अर्थात् उपासना (काण्ड) रहित हैं। इस तरह इन तीन उपाधियोंसे उन लोगोंको जो दाशरथि श्रीरामजीसे भिन्न अन्य 'राम' का प्रतिपादन करते हैं, वेदत्रयी कर्म-ज्ञान-उपासना-काण्डत्रयसे रहित बताया और काण्डत्रयरहित होनेसे इनकी मुक्ति कदापि नहीं हो सकती, सदा संसारचक्रमें पड़े जन्मते-मरते रहेंगे—यह जनाया। (ख) *'ग्रसे जे मोह पिसाच'*—मोहको पिशाचकी उपमा देनेका भाव कि भूत-प्रेत जिसको लगते हैं, जिसके सिरपर सवार होते हैं, वह पागल-सरीखा बोलने लगता है, वैसे ही ये बोलते हैं। जैसे पिशाच सिरपर चढ़कर पिशाचग्रस्तसे जो चाहता है कहलवाता है, वैसे ही मोहरूपी पिशाच इनके सिरपर सवार है, वही इनसे परमेश्वरके विषयमें जैसी-तैसी बातें बकवाता है; यथा—*'बातुल भूत बिबस मतवारे। ते नहिं बोलहिं बचन बिचारे॥'* (११५। ७) *'मरम बचन सुनि राउ कह कहु कछु दोषु न तोर। लागेउ तोहि पिसाच जिमि कालु कहावत मोर॥'* (२। ३५) (ग) *'पाषंडी'* हैं अर्थात् दिखानेभरके लिये करते हैं। [(घ) त्रिपाठीजीका मत है कि 'यह पहिले प्रकारके हरिविमुखों (जिन्होंने *'हरिकथा सुनी नहिं काना'*) के लिये कहते हैं कि ऐसे अधम लोग ऐसी बातें कहते और सुनते हैं। हरिकथा तो कभी सुनी नहीं, वे मिथ्या संसारको ही सत्य माने बैठे हैं, ब्रह्म (सत्य) उनके लिये कोई वस्तु ही नहीं है।']

नोट—*'ग्रसे जे मोह पिशाच'* पाखण्डी इत्यादि विशेषण औरोंके देकर उसके अभिप्रायसे शिवजी पार्वतीजीको धिक्कारते हैं। (वै०) इस भावके अनुसार यहाँ तुल्यप्रधान गुणीभूत व्यंग है—*'चमत्कारमें व्यंग्य*

---

* कोई-कोई ऐसा अर्थ करते हैं—वे झूठ जानते हैं, सत्य नहीं जानते और कहते हैं कि जैसे संतोंका झूठ बोलना विषके समान जान पड़ता है, वैसे ही खलोंको सत्य बोलना विषके समान जान पड़ता है।—मिथ्या माहुर सज्जनहिं खलहिं गरल सम साँच। तुलसी छुअत पराइ ज्यों पारद पावक आँच॥' (दोहावली ३३९) अतएव इनका झूठ ही जानना कहा।

***अरु वाच्य बराबर होय।'*** तुल्यप्रधान गुणीभूत वहाँ कहा जाता है जहाँ वाच्यार्थ और व्यंग्यार्थ बराबरीके हों। कथन तो यहाँ सर्वसाधारणके लिये है, पर उस सर्वसाधारणमें पार्वतीजी भी आ जाती हैं; अतः उनपर भी घटित हो जाता है, वे चाहें तो ऐसा समझ सकती हैं कि यह सब मुझको कहते हैं। ***'मोह पिसाच'*** में सम-अभेद रूपक है। पहले एक साधारण बात कहकर कि ऐसा अधम नर कहते हैं,' फिर उसका समर्थन विशेष सिद्धान्तसे करना कि जो मोहग्रस्त हैं, पाखण्डी हैं इत्यादि वे ऐसा कह सकते हैं, किन्तु तुम्हारा कहना युक्त नहीं—'अर्थान्तरन्यास' अलंकार है। प्र० स्वामीके टिप्पणी आगेकी चौपाईमें देखिये।

**अज्ञ अकोबिद अंध अभागी। काई बिषय मुकुर मन लागी॥ १॥**
**लंपट कपटी कुटिल बिसेषी। सपनेहु संत सभा नहिं देखी॥ २॥**

शब्दार्थ—**अज्ञ**=जिनका धर्मभूत ज्ञान संकुचित हो। **अकोबिद**=शास्त्रजन्य ज्ञानसे रहित।=जो पण्डित नहीं है। **काई**=जङ्ग, मैल, मल। **लंपट**=विषयोंमें लपटे हुए, विषयी, कामी; यथा—***'पर त्रिय लंपट कपट सयाने।'*** (७। १००) **कपटी**=जिनके मनमें कुछ हो और बाहर कुछ।—***'मन कपटी तन सज्जन चीन्हा।'***

अर्थ—जो अज्ञानी, अकोविद, अन्धे और भाग्यहीन हैं; जिनके मनरूपी दर्पणमें विषयरूपी मल लगा है॥ १॥ जो विशेषरूपसे लंपट, कपटी और कुटिल हैं, जिन्होंने (जाग्रत्‌की कौन कहे) स्वप्नमें भी सन्तसमाजका दर्शन नहीं किया॥ २॥

टिप्पणी—१ (क) ***'अज्ञ'*** से ज्ञाननयनरहित जनाया और ***'अकोबिद'*** से श्रुतिस्मृतिनेत्ररहित। [यथा—वृद्धपाराशरस्मृतौ—**'श्रुतिस्मृती उभे नेत्रे ब्राह्मणानां प्रकीर्त्तिते। एकेन विकलः काणो द्वाभ्यामन्ध इतीरितः॥'** अर्थात् शास्त्रोंमें ब्रह्मवेत्ताओंके वेद और धर्मशास्त्र दो नेत्र कहे गये हैं। इनमेंसे जिसको एकहीका ज्ञान हो दूसरेका न हो वह काना है और जिसे दोनोंका ज्ञान न हो उसे अन्धा कहा गया है। पुनश्च यथा हितोपदेश—'**अनेकसंशयोच्छेदि परोक्षार्थस्य दर्शकम्। सर्वस्य लोचनं शास्त्रं यस्य नास्त्यन्ध एव सः॥**' अर्थात् अनेक संशयोंका छेदन करनेवाला और परोक्ष बातोंका दर्शानेवाला शास्त्र सबकी आँख है; जिसे यह न हो अर्थात् जिसे शास्त्रका ज्ञान नहीं है, वह ही अन्धा है]; इसीसे (ज्ञान-श्रुतिस्मृति नेत्रहीन होनेसे) अन्धा कहा। अथवा, (ख) ***'अज्ञ अकोबिद'*** से भीतर (हृदय) के नेत्रोंसे रहित कहा और 'अन्ध' से बाहरके नेत्रोंसे रहित जनाया (अर्थात् इनके भीतरकी और बाहरकी दोनों ही फूटीं); क्योंकि सगुण ब्रह्म बाहरके नेत्रोंसे देख पड़ता है। आगे इसीको स्पष्ट करके लिखते हैं—***'मुकुर मलिन अरु नयन बिहीना। रामरूप देखहिं किमि दीना॥'*** (ग) [मा० पी० प्र० सं०—***'अज्ञ अकोबिद'''''*** का अन्वय वा सम्बन्ध चौथी चौ० ***'मुकुर मलिन''''''*** से है। ***'अज्ञ'*** हैं अर्थात् ज्ञान-वैराग्य-नेत्रहीन हैं।''''ज्ञान-वैराग्य और श्रुतिस्मृति ये ही दो नेत्र कहे गये हैं, यथा—***'ज्ञान बिराग नयन उरगारी।'*** (७। १२०)''''''']

प० प० प्र०—मोह पिशाचग्रस्त=विमोहवश। पाखण्डी=न धर्मरति। हरिपदबिमुख=हरिविमुख। जानहि झूठ न साँच=मतिमन्द। इस प्रकार यहाँ चारको कहा, पर इनमें प्रथम मोहपिशाचग्रस्तोंका उल्लेख पार्वतीजीपर कटाक्ष करके ही किया है। इन चारोंको ही आगे क्रमशः अभागी, अन्ध, अकोविद और अज्ञ कहते हैं, यथा—***'अज्ञ अकोबिद अंध अभागी।'*** पर चौपाईमें क्रम उलटा है। कारण कि शिवजीने पार्वतीजीके मोहसे ही उपक्रम किया है और अन्तमें उपसंहार भी पार्वतीमोहके विषयमें ही करना है।

सती-पार्वती, गरुड़, नारदादि ज्ञानीको मोह होता है, वे अभागी हैं। पाखण्डी=जो वेदविरोधी रावणादि राक्षसोंके समान हैं, अपनी सत्ता, ऐश्वर्यादिके अभिमानसे, मदसे अन्धे हो जाते हैं; जिससे रामलीलाका रहस्य उनकी समझमें नहीं आता। हरिपदविमुख, हरिभक्तिविहीन, हरिविरोधी, अकोविद है, वह उलटा ही जानता है और जो अज्ञ अर्थात् मतिमन्द है, वह झूठ और सत्य कुछ नहीं जानता, उसको शास्त्र-ज्ञान आदि कुछ नहीं है।

ऐसे चार प्रकार न माननेसे भरद्वाज, गरुड़, सती, पार्वती आदिको भी पाखण्डी और हरिविरोधी कहना पड़ेगा; पर ऐसा मानना सत्यका अपलाप और सन्तोंकी निन्दा ही ठहरेगी। (आगे शृङ्खला ११५। ३-४ में देखिये।)

वि० त्रि०—वेद-असम्मत वाणी बोलनेवाले, यदि विज्ञ भी हों तो उन्हें अज्ञ ही समझना चाहिये। जिसे इतना अभिमान है कि अपनी समझके सामने ईश्वरीय वाणीको नहीं गिनता, अथवा ऐसा अविश्वासी है कि सनातन वेदपर विश्वास नहीं करता, अथवा मनसे भी अचिन्त्य रचनावाले संसारको देखनेपर भी उसके रचयिताकी ओर जिसका ध्यान नहीं जाता, वह विज्ञ होनेपर भी अज्ञ है, कोविद (पण्डित) होनेपर भी मूर्ख है, आँख रहते अन्धा है।''''यदि ईश्वरमें विश्वास हो तो यह बात भी समझमें आवे कि इस विश्वका रचनेवाला विश्वके कल्याणके लिये बिना कुछ उपदेश दिये उसे उपेक्षित नहीं छोड़ सकता। अतः उसे वेद-शास्त्रकी आवश्यकता मालूम पड़ेगी और जिसे ईश्वरपर विश्वास नहीं वह वेद क्यों मानेगा? तब वह अभागी है, भव-भंजनपदविमुख है, मुनि-जन-धन-सर्वस्व शिव प्राण उसके भाग्यमें नहीं, वह सदा जन्म-मरणरूपी संसारमें पड़ा हुआ अधमगतिको प्राप्त होता चला जायगा।

टिप्पणी—२ ***'काई बिषय मुकुर मन लागी'*** इति। (क) विषयरूपी काई मनरूपी दर्पणमें लगी हुई है अर्थात् मन विषयी हो रहा है, तब रामरूप कैसे देख पड़े? यथा—***'राम प्रेम पथ पेखिये दिए विषय तन पीठि। तुलसी केंचुरि परिहरे होत साँपहू डीठि॥'*** (दोहावली ८२) अर्थात् श्रीरामप्रेमगली तभी देख पड़ती है जब विषयको पीठ दे, उससे बिमुख हो जाय, जैसे सर्पको उस समयतक नहीं सूझ पड़ता जबतक केंचुल उसके शरीरको आच्छादित किये रहती है।

टिप्पणी—३ ***'लंपट कपटी कुटिल'''''*** इति। (क) [लंपट अर्थात् कामी, परस्त्रीगामी, व्यभिचारी हैं, इसीसे उनके मनमें कपट रहता है, स्वकार्य साधनार्थ वे कहते कुछ हैं, करते कुछ हैं और मनमें उनके कुछ है, सारा व्यवहार कपटका रहता है, अतः कपटी कहा। कुटिल हैं अर्थात् टेढ़ी चाल चलते हैं। वि० त्रि० लिखते हैं कि 'कपटी अपनी अन्तरात्मासे कपट करता है, उसे सत्यज्ञान हो ही नहीं सकता। यथा—***'कपट करौं अंतरजामिहु ते अघ ब्यापकहि दुरावों।'*** कुटिल परम सरल वचनमें भी पेंच देखता है, यथा—***'चलै जोंक जिमि बक्रगति जद्यपि सलिल समान।'*** ऐसे लोगोंको वेदपर विश्वास नहीं हो सकता।'] ***'सपनेहु'*** का भाव कि सन्तसमाजका दर्शन बड़े भाग्यसे होता है, यथा—***'बड़े भाग पाइब सतसंगा।'*** (७। ३३। ८) जब बड़े भाग्य उदय हों तभी दर्शन होता है, सामान्य भाग्यसे सन्त-दर्शन नहीं मिलता। और, इनके न तो बड़ा भाग्य है और न सामान्य ही; ये तो अभागे हैं। इसीसे इन्हें स्वप्नमें भी सन्त-सभाके दर्शन नहीं हुए। [पुनः, भाव कि जाग्रदवस्थामें दर्शन होना बड़ा भाग्य है। यह न हो, पर कदाचित् स्वप्नमें ही सन्तोंके दर्शन हो जायँ तो भी भाग्य ही समझना चाहिये, यद्यपि वह सामान्य ही है, पर ये पूरे अभागी हैं, क्योंकि इन्हें कभी स्वप्नमें भी दर्शन नहीं हुआ। पुनः, मुहावरेके अनुसार ***'सपनेहु'*** का भाव 'कभी भी', 'भूलेसे भी' है। पुनः, ऊपर जो ***'अज्ञ अकोबिद अंध अभागी'*** कहा था उसीके सम्बन्धसे यहाँ ***'सपनेहु संत सभा''''*** कहा। अन्धे भी स्वप्न देखते हैं, पर ये ऐसे अभागे हैं कि इन्होंने कभी स्वप्न भी सन्तोंका नहीं देखा। पुनः, भाव कि मनुष्य जो व्यवहार दिनमें करता है, प्रायः वही उसे स्वप्नमें देख पड़ता है और ये तो लंपट हैं, इनका व्यवहार कपट एवं कुटिलताका रहता है, अतएव इन्हें वही स्वप्नमें दीखेगा। जाग्रत्में संत-समागम किया होता तो स्वप्नमें भी सम्भव था।—स्वप्नमें भी किये हुए सत्सङ्गका प्रभाव श्रीवसिष्ठजी तथा श्रीविश्वामित्रजीके उस प्रसङ्गसे अत्यन्त स्पष्ट हो जाता है, जब कि पचास हजार वर्षके कठिन तपके फलपर विश्वामित्रजी अपने सिरपर पृथ्वी न धारण कर सके और वसिष्ठजी स्वप्नमें किये हुए केवल दो घड़ीके सत्सङ्गके फलपर पृथ्वीको अपने सिरपर धारण करनेको समर्थ हुए थे। स्वप्नके सत्संगका यह प्रभाव है, अतः ***'सपनेहु संत सभा नहिं देखी'*** का भाव कि स्वप्नमें भी सत्सङ्ग होना दुर्लभ पदार्थ है, यदि हो जाता

तो वे सुधर जाते, संत-असम्मत वाणी न कहते। पुनः, भाव कि इनका साथ सदा असंतोंका रहता है, अतः ये सब आचरण इनमें हैं]। ☞ *'संतसभा नहिं देखी'* का भाव कि संतदर्शनसे बुद्धि निर्मल हो जाती है। यथा—*'संत दरस जिमि पातक टरई।'* (४। १७), *'काक होहिं पिक बकउ मराला', 'सठ सुधरहिं सतसंगति पाई।'* (१। ३) इन्होंने दर्शन नहीं किया; इसीसे मलिनबुद्धि बने रहे।

**कहहिं ते बेद असंमत बानी। जिन्ह[1] के सूझ लाभु नहिं हानी॥ ३॥**
**मुकुर मलिन अरु नयन बिहीना। राम रूप देखहिं किमि दीना॥ ४॥**

शब्दार्थ—**बेद असंमत**=वेदविरुद्ध, वेदोंके प्रतिकूल।

अर्थ—जिन्हें अपना हानि-लाभ नहीं सूझता, वे ही वेदविरुद्ध वचन कहते हैं॥ ३॥ (उनका मनरूपी) दर्पण मैला है और वे नेत्ररहित हैं, तब भला वे बेचारे श्रीरामरूप कैसे देखें?॥ ४॥

टिप्पणी—१ (क) *'कहहिं ते बेद'''''* इति। *'संतसभा नहिं देखी'* से संत-विरुद्ध और *'बेद असंमत'* से वेद-विरुद्ध। अर्थात् उनकी वाणी सन्त और श्रुति दोनोंसे विरुद्ध है; अतएव वह प्रमाण नहीं है। इससे जनाया कि तुम्हारी *'राम कोउ आना'* वाली बात संत-श्रुति-असंमत है। (ख) *'लाभ नहिं हानी'* इति। लाभ क्या है? रघुपति-भक्तिका होना। यथा—*'लाभु कि किछु हरिभगति समाना।'* (७। ११२। ८) *'लाभ कि रघुपति भगति अकुंठा।'* (६। २६। ८) 'हानि क्या है? नरतन पाकर भी भगवद्भक्ति न करना। यथा—*'हानि कि जग एहि सम किछु भाई। भजिअ न रामहि नर तनु पाई॥'* (७। ११२। ९) [पुनः यथा—*'तुलसी हठि हठि कहत नित चितु सुनि हित करि मानि। लाभ राम सुमिरन बड़ो बड़ी बिसारे हानि॥'* (दोहावली २१)] (ग) *'सूझ'*—ऊपर इनको 'अंध' कह आये, इसीसे यहाँ न सूझना कहा, क्योंकि अन्धेको सूझता नहीं। लाभ और हानि इनको नहीं सूझते; यथा—*'परमारथ पहिचानि मति लसति बिषय लपटानि। मनहु चिता ते अधजरत तुलसी सती परानि॥'* इति। (दोहावली) अर्थात् परमार्थको जानकर भी बुद्धि विषयमें लपटी रहती है; इनकी दशा वैसी ही शोचनीय है जैसे कोई स्त्री सती होने जाय और अधजली होकर उठ भागे।]

प० प० प्र०—*'काई बिषय मुकुर मन लागी॥ लंपट कपटी कुटिल बिसेखी। सपनेहु संतसभा नहिं देखी॥'*— ये हैं वेद-असम्मत वाणी कहनेके कारण और *'जिन्ह के सूझ लाभ नहिं हानी',* कारण भी चार ही गिनाये हैं। चारोंको लाभ-हानि नहीं सूझती। जिन्होंने स्वप्नमें भी सन्तसभा नहीं देखी वे अकोविद होते हैं। जो अन्धे हैं वे मदान्ध हैं, वे विशेष विषयलंपट, विशेष कपटी और विशेष कुटिल बनते हैं जैसे रावण। अज्ञ और अन्ध-अकोविद लोगोंके मनपर विषय-काई लगी रहती है।—ऐसे चार भेद न माननेसे सती, पार्वती, गरुड़को लंपट, कपटी, कुटिल विशेष आदि मानना पड़ेगा। सतीने कपट तो किया ही, पर विशेष नहीं किया और लंपटादि नहीं हैं यह है दुर्जनोंका लक्षण। जो अभागी हैं ये *'हरि मायाबल जगत भ्रमाहीं।'* शेष तीन अविद्या मायावश भ्रमते रहते हैं।' (शृङ्खलाके लिये ११५। ७-८ में देखिये)

वि० त्रि०—वेद तो कहता है कि '**चिन्मयेऽस्मिन् महाविष्णौ जाते दशरथे हरौ। रघोः कुलेऽखिलं राति राजते यो महीस्थितः।**' (रा० पू० ता० उ०) (अर्थात्) चिन्मय महाविष्णु हरि रघुकुलमें श्रीदशरथजीके यहाँ उत्पन्न हुए। रामरहस्योपनिषद् कहता है कि '**राम एव परं ब्रह्म राम एव परं तपः। राम एव परं तत्त्वं श्रीरामो ब्रह्म तारकम्॥**' और मुक्तिकोपनिषद्‌में कहा है कि '**राम त्वं परमात्मासि सच्चिदानन्दविग्रहः। इदानीं त्वां रघुश्रेष्ठ प्रणमामि मुहुर्मुहुः॥**' राम! आप परमात्मा सच्चिदानन्दविग्रह हैं। हे रघुश्रेष्ठ! आपको बार-बार प्रणाम। सामवेदके उत्तरार्चिक अ० १५ खं० २ सू० १ मं० ३ में संक्षेपसे रामकथा भी वर्णित है—'**भद्रोपभद्रया सह सचमान आगात् स्वसारं जारोऽभ्येति पश्चात्। सुप्रकेतैर्द्युभिरग्निर्वितिष्ठन्नुशद्भिर्वर्णैरभिराममस्थात्॥**' (**भद्रः कल्याणकरो रामचन्द्रो भद्रया सीतया सचमानः सहितः यदा वनमागात् तदा**

१ जिन्हहि न—१७२१, १७६२ छ० को० रा०। जिन्हके—१६६१, १७०४।

**जारः धर्मविरुद्धाचरणेन स्वायुषो जरयिता रावणः पश्चाद् रामसान्निध्ये स्वसारं स्वपित्रादिऋषिरक्तोत्पन्नत्वेन भगिनीतुल्यां सीताम् अभ्येति हरणार्थमायात् तदनन्तरं सुप्रकेतैः शोभनध्वजैः द्युभिः अलौकिकैरुशद्भिः कमनीयैर्वर्णै रथैः कुम्भकर्णादिश्च सह अग्निः क्रोधाग्निप्रज्वलितहृदयो रावणः वितिष्ठन् युद्धाय सन्नद्धः सन् रामम् अभिस्थात् रामस्य सान्निध्यं गतवान्।)** अर्थात् कल्याणकर श्रीरामचन्द्र जब कल्याणकरी सीताजीके साथ वन गये, तब धर्म-विरुद्धाचरणसे अपने-आपको नष्ट करनेवाले रावणने रामजीकी अनुपस्थितिमें स्वपित्रादि ऋषियोंके रक्तसे उत्पन्न भगिनीके समान सीताके समीप जाकर उन्हें हरण किया; तदनन्तर क्रोधाग्निसे जलता हुआ वह विचित्र वर्णवाले रथोंसे सज्जित होकर कुम्भकर्णादिकोंसे युक्त, रामजीके साथ युद्ध करने गया।' मन्त्ररामायण प्रसिद्ध ही है; पर वे कहेंगे कि राम कोई दूसरे हैं।

टिप्पणी—२'*मुकुर मलिन अरु नयन बिहीना।*……' इति। (क) '*मुकुर*' का भाव कि निर्मल मनसे श्रीरामजी देख पड़ते हैं। यथा—'*निर्मल मन जन सो मोहि पावा। मोहि कपट छल छिद्र न भावा॥*' (५। ४४) '*नयन*' का भाव कि श्रुतिस्मृति-ज्ञानसे श्रीरामरूप देख पड़ता है, पर इनका मन-मुकुर मलिन है और श्रुतिस्मृति-ज्ञान-नेत्र इनके नहीं हैं, अतः इन्हें नहीं सूझता। '*मुकुर मलिन अरु नयन बिहीना*' की व्याख्या '*अज्ञ अकोबिद अंध अभागी। काई बिषय मुकुर मन लागी॥*' में कर आये हैं, पर वहाँ '*रामरूप देखहिं किमि दीना*' यह नहीं कहा था, इसीसे इसकी व्याख्या वहाँ नहीं की गयी। (ख)'*रामरूप देखहिं किमि*' का भाव कि बिना रामरूप देखे वेद-असंमत-वाणी कहते हैं, यदि रामरूप देख पड़े तो ऐसा न कहें। ☞जिन्हें पूर्व कह आये और जिन्हें 'पर' (आगे) कहेंगे वे सब रामरूप देखनेके अधिकारी नहीं हैं। (ग) '*देखहिं किमि दीना*' इति। शंका—'दीन तो भगवान्‌को प्रिय हैं; यथा—'*जेहि दीन पिआरे बेद पुकारे द्रवउ सो श्रीभगवाना।*' (१। १८६) और दर्शनके अधिकारी हैं (यथा—'*नाथ सकल साधन मैं हीना। कीन्ही कृपा जानि जन दीना॥*' (३। ८। ४)'*हे बिधि दीनबंधु रघुराया। मो से सठ पर करिहहिं दाया॥*' (३। १०। ४)'*एहि दिवान दिन दीन कनिगरे रीति सदा चलि आई।*' (विनय), तब यहाँ '*देखहिं किमि दीना*' कैसे कहा ?' समाधान यह है कि जिन दिव्य गुणोंसे भगवान् देख पड़ते हैं, उन गुणोंसे ये हीन हैं, ऐसे दीन रामरूप देखनेके अधिकारी नहीं हैं। जो दीन भगवान्‌को प्रिय हैं वह सब दिव्य गुणोंसे पूर्ण हैं, पर अपनेको सबसे छोटा वा तुच्छ मानते हैं। गीताके '**अवजानन्ति मां मूढा मानुषीं तनुमाश्रिताः।**' (९। ११) ही यहाँके 'दीन' हैं।

नोट—१ यहाँ मुकुरकी उत्प्रेक्षासे अपने हृदयमें श्रीरामजीको देखना कहा, क्योंकि मन वा अन्तःकरणमें ही ज्ञान-वैराग्य नेत्र हैं और वहीं श्रीरामरूप भी है। यथा—'*दूरि न सो हितू हेरु हिये ही है।*' (वि० १३५) '*परिहरि हृदयकमल रघुनाथहि बाहेर फिरत बिकल भयो धायो।*' (वि० २४४) (बाबा रामदासजी)।

नोट—२ (क) मानस-तत्त्व-विवरणकार लिखते हैं कि 'यहाँ उपमेयलुप्ता अलंकार है। विषयसे अन्तःकरण मलिन हो रहा है—'**ज्ञानं चाप्रतिमं तस्य त्रिकालविषयं भवेत्। दूरश्रुतिर्दूरदृष्टिः स्वेच्छया खगतां व्रजेत्॥**' इति (शिवसंहिता) इसलिये सफाई जरूरी है सो हुई नहीं। एवं जो सन्तरहस्य है—'*उलट नयना देख ले अपना राम अपनेमें*' सो इससे भी हीन हैं एवं रामधन-रहित हैं तो रामरूप कैसे देख सकें? अथवा दो जनोंको निकट वस्तु देखना अगम है। एक वह जिसका दूरबीन मलिन है, दूसरा जिसे मोतियाबिन्द हो और रामरूप तो दूरसे भी दूर और निकटसे भी निकटतर है। दूरबीनका मुकुर मानसचक्र है, उसमें जंग लगा अर्थात् अगोचरीमुद्रा सिद्ध नहीं हुई है। पुनः, श्रुति-स्मृतिरूपी नेत्र होते तो भी रामरूप देख पड़ता; क्योंकि श्रुतिस्मृतिके नेत्र रामनाम हैं, यथा—'**लोचनस्तु श्रुतीनाम्।**' यह भेद उनको नहीं मिला, अतएव वे रामरूप कैसे देख सकें।'' (ख) प्रोफे० दीनजी कहते हैं कि'*मुकुर मलिन अरु नयन बिहीना*' में 'रूपकातिशयोक्ति' अलंकार है। (ग) रा० प्र० कार लिखते हैं कि '*मुकुर मलिन*……' का भाव यह है कि 'विवेक रहित हैं। कदाचित मोतियाबिन्द आदिसे जब नहीं सूझता है तब ऐनक लगाते हैं सो वह भी मलिन है, अर्थात् देखनेके उपयोगी नहीं। यहाँ मुकुर-स्थानमें उपदेष्टाको जानो।' (घ) बैजनाथजी

लिखते हैं कि 'मनरूपी दर्पण तो विषयरूप मल लगनेसे मलिन है, फिर वे विचार-विवेकरूपी नेत्रोंसे रहित हैं, उनको अपना ही रूप नहीं सूझता है तब रामरूप कैसे देख पड़े? मनदर्पण अमल आत्मरूपके सम्मुख हो और विचार-विवेक नेत्र हों तो अपना रूप देखे और वैराग्य-सन्तोषकी सहायतासे सावधान होवे तब आत्मरूपके बुद्धि-विज्ञान नेत्रोंसे रामरूप देख पड़े। जो अपना ही आत्मरूप भूला है और बुद्धि ज्ञानहीन विषयवश है वह दीन रामरूप कैसे जाने? यहाँ गुण देख उपमेयका उपमानमें आरोप होनेसे 'गौणी साध्यावसाना लक्षणा' है।'

☞नोट—३ विषयकाईके दूर करनेकी ओषधि भी गोस्वामीजीने बतायी है। वह यह कि गुरुपद-रजके सेवनसे मलिनता दूर होती है। यथा—'*श्रीगुरुचरन सरोजरज निज मन मुकुर सुधारि।*' पुन:, यथा—'*गुरु पद रज मृदु मंजुल अंजन। नयन अमिय दृग दोष बिभंजन॥*'

**जिन्ह के अगुन न सगुन बिबेका। जल्पहिं कल्पित बचन अनेका॥५॥**
**हरि माया बस जगत भ्रमाहीं। तिन्हहिं कहत कछु अघटित नाहीं॥६॥**

शब्दार्थ—**जलपना**=बकना, डींग मारना, बकवाद करना, बढ़-बढ़कर बातें करना, शेखी बघारना। यथा—'*एहि बिधि जल्पत भयउ बिहाना।*' (६। ७१। ९) '*जनि जल्पसि जड़ जंतु कपि सठ बिलोकु मम बाहु।*' (६। २२) '*सत्य सत्य सब तव प्रभुताई। जल्पसि जनि देखाउ मनुसाई॥*' (६। ८९। १०) '*जनि जल्पना करि सुजस नासहि*……' (६। ८९) **कल्पित**=मनसे गढ़े हुए, मनगढ़न्त; यथा—'*दंभिन्ह निज मति कल्पि करि प्रगट किए बहु पंथ।*' (७। ९७) **भ्रमाहीं**=भ्रमते रहते हैं, जन्म-मरणके चक्रमें चक्कर खाते रहते हैं। ☞ '**भ्रमाना**' भ्रमनाकी सकर्मक क्रिया है परंतु यहाँ वह अकर्मक क्रियाके ही अर्थमें है। **अघटित**=अयोग्य, अशोभित, अनुचित, कुछ आश्चर्यकी बात।

अर्थ—जिनके निर्गुण-सगुणका विवेक नहीं है, वे अनेक मनगढ़न्त बातें बकते हैं॥५॥ भगवान्‌की मायाके वशमें होकर वे संसारमें चक्कर खा रहे हैं। उनके लिये तो कुछ भी कह डालना असम्भव नहीं है (अर्थात् वे सभी तरहकी बेढंगी बातें कह सकते हैं, उनका कुछ भी कह डालना आश्चर्यकी बात नहीं)॥६॥

टिप्पणी—१ (क) '*अगुन न सगुन बिबेका*' इति। अगुण-सगुणका विवेक यह है कि जब वह अव्यक्त रहता है तब अगुण, निर्गुण वा अव्यक्त कहलाता है और जब प्रत्यक्ष दिखायी देता है तब वही सगुण कहा जाता है, दोनोंमें वास्तविक भेद नहीं है। यथा—'*एक दारु गत देखिअ एकू। पावक सम जुग ब्रह्म बिबेकू॥*' (१। २३। ४) अर्थात् निर्गुण काष्ठके भीतरके अव्यक्त, अप्रकट अग्निके समान है और सगुण प्रत्यक्ष वा व्यक्त अग्निके समान है। जैसे '*अति संघर्षन कर जो कोई। अनल प्रगट चंदन ते होई॥*', वैसे ही जो निर्गुण '*एक अनीह अरूप अनामा। अज सच्चिदानंद परधामा॥*' …… इत्यादि विशेषणोंसे युक्त है वह भी '*नाम निरूपन नाम जतन ते*' प्रकट हो जाता है—'*सोउ प्रगटत जिमि मोल रतन ते*', पुन:, प्रेमकी अधिकतासे प्रकट हो जाता है; यथा—'*प्रेम ते प्रभु प्रगटइ जिमि आगी*', '*नेम प्रेमु संकर कर देखा।* ……*प्रगटे राम कृतग्य कृपाला।*' (१। ७६) इत्यादि। विशेष (१। २३। ४) में देखिये। एवं श्रीशिवजी भी अगुण-सगुणका विवेक आगे स्वयं ही कहते हैं—'*सगुनहिं अगुनहिं नहिं कछु भेदा।*……*जलु हिम उपल बिलग नहिं जैसे।*' (११६। १-३) (ख) '*जल्पहिं कल्पित बचन*' अर्थात् वेद-असम्मत वाणी कहते हैं। वेदविरुद्ध होनेसे '*कल्पित*' कहा। (ग) '*रामरूप देखहिं किमि दीना*' और '*जल्पहिं कल्पित बचन*' दोनों बातें कहकर जनाया कि श्रीरामरूप तो देखते नहीं और बातें बहुत गढ़ते-बकते हैं।

टिप्पणी—२ '*हरि माया बस*……' इति। (क) अर्थात् अविद्यामायाके वश हैं। (हरिमाया दो प्रकारकी है, एक विद्या, दूसरी अविद्या। जीव अविद्या मायाके वश जगत्‌में जन्म-मरणके चक्रमें पड़े भ्रमण करते रहते हैं, चौरासी भोगते हैं, बारम्बार जन्म लेते और मरते रहते हैं। यथा—'*तेहि कर भेद सुनहु तुम्ह सोऊ। बिद्या अपर अबिद्या दोऊ॥ एक दुष्ट अतिसय दुखरूपा। जा बस जीव परा भव कूपा॥ एक रचइ जग गुन बस जाकें। प्रभु प्रेरित नहिं निज बल ताकें॥*' (३। १५। ४—६) अत: यहाँ अविद्यामायावश

होना ही अभिप्रेत है।') (ख) *'तिन्हहि कहत……'* अर्थात् अज्ञानकी बातें जो वे कहते हैं वे सब उनमें घटित हैं, उनके योग्य ही हैं। (ग) ☞ऐसा ही भुशुण्डिजीने कहा है। यथा—*'माया बस मतिमंद अभागी। हृदय जमनिका बहु बिधि लागी॥ ते सठ हठ बस संसय करहीं। निज अज्ञान राम पर धरहीं॥ काम क्रोध मद लोभरत गृहासक्त दुख रूप। ते किमि जानहिं रघुपतिहि मूढ़ परे तम कूप॥'* (७। ७३) इस तरह शिवजी और भुशुण्डिजीका एक ही सिद्धान्त है। [जिसने हरिभक्तिको हृदयमें स्थान नहीं दिया उस चौथे प्रकारके हरिविमुखके विषयमें यह कहा गया है। (वि० त्रि०)]

**बातुल भूत बिबस मतवारे। ते नहिं बोलहिं बचन बिचारे॥ ७॥**
**जिन्ह कृत महामोह मद पाना। तिन्ह कर कहा करिअ नहिं काना॥ ८॥**

शब्दार्थ—**बातुल**=जिसको बात वा बाई चढ़ी है; बावला; सिड़ी; पागल। **भूत बिबस**=जिसके शरीरमें भूतप्रेत समा गया है, भूतका आवेश है; प्रेतग्रस्त। **मतवारे** (मतवाले)=जो मदिरा, भंग, धतूर आदि मादक पदार्थ खाकर पागल हो जाते हैं; उन्मत्त; नशेमें चूर। कान करना=सुनना। यथा—*'तेइ कछु कान न कीन्ह कुटिल प्रबोधी कूबरी।'* (२। ५०) यह मुहावरा है।

अर्थ—जिन्हें सन्निपात हो गया है, जो पागल हैं, जो भूत (प्रेतों) के विशेष वश हैं, जो मतवाले हैं, ऐसे लोग विचारकर वचन नहीं बोलते। जिन्होंने महामोहरूपी मदिरा पी है, उनके कथन (वचनों, बातों) पर कान न देना चाहिये॥ ७-८॥

टिप्पणी—१ *'बातुल भूत बिबस मतवारे'* का दूसरा अर्थ इस प्रकार भी होता है कि *'बातुल'* से लोभी (यथा—*'लोभ बात नहिं ताहि बुझावा।'* (७। १२०। ४) वा कामी (यथा—*'काम बात कफ लोभ अपारा।'* (७। १२१। ३०) *'भूत बिबस'* से मोहग्रस्त (यथा—*'ग्रसे जे मोह पिसाच।'* (११४) और *'मतवारे'* से महामोही (यथा—*'जिन्ह कृत महामोह मद पाना')* का ग्रहण कर लें तो भाव यह होगा कि लंपट (कामी, लोभी), *'ग्रसे जे मोह पिसाच'* और महामोही—ये कोई विचारकर वचन नहीं बोलते। इनके कथनपर कान न देना चाहिये, पर यह अर्थ शिथिल है, क्योंकि एक ही बात दो जगह कहनेसे पुनरुक्ति दोष आता है।—पूर्व जो *'ग्रसे जे मोह पिसाच'* कहा उसीको यहाँ *'भूत बिबस'* कहा, [क्योंकि भूत और पिशाच प्रायः एक ही हैं। पूर्व जो *'लंपट कपटी कुटिल'* कहा, वही यहाँ *'बातुल'* हैं; क्योंकि लंपट कामीको कहते हैं; यथा—*'परतिय लंपट कपट सयाने';* और कामको बात कहा ही है—*'काम बात…।'* (७। १२१) वातग्रस्तको बातुल कहते हैं]; *'जिन्ह कृत महामोह मद पाना'* कहनेसे *'मतवारे'* का कथन हो चुका, तब पुनः, *'मतवारे'* कहनेका प्रयोजन ही क्या रह गया? यदि कविको यह अर्थ अभीष्ट होता तो विकारोंके नाम खोलकर लिखते; जैसे *'मोह'* को पिशाच और महामोहको मादक कहा था।

टिप्पणी—२ *'जिन्ह कृत महामोह मद पाना।……'* इति (क) ☞*'मोह'* को पिशाच कहा—*'ग्रसे जे मोह पिसाच'*। *'महामोह'* को मादक (मद्य) कहा। तात्पर्य कि पञ्चपर्वा अविद्याके भेदोंमेंसे मोह और महामोह भी दो भेद हैं। यथा—'**तमोऽविवेको मोहः स्यादन्तःकरणविभ्रमः। महामोहस्तु विज्ञेयो ग्राम्यभोगसुखैषणा॥ मरणं ह्यन्धतामिस्रं तामिस्रं क्रोध उच्यते। अविद्या पञ्चपर्वैषा समुद्भूता महात्मनः॥**', (विष्णुपुराण) अर्थात् अविवेकको तम कहते हैं, मनके भ्रमको मोह, विषयसुखकी इच्छाको महामोह, मरणको अंधतामिस्र और क्रोधको तामिस्र कहते हैं। इस प्रकार परब्रह्म परमात्मासे ये पाँच प्रकारकी अविद्या प्रकट हुई हैं। (१३६। ५-६) भी देखिये*। (ख) यह प्रसंग *'मोह'* से उठाया था—*'ग्रसे जे मोह पिसाच',* और *'महामोह'* पर समाप्त किया—*'जिन्ह कृत महामोह मद……'।* आदि-अन्तमें मोहको लिखनेका भाव कि जितने

---

* मानस तथा गोस्वामीजीके अन्य ग्रन्थोंमें तम और महामोह ये शब्द यत्र-तत्र आये हैं। इनका अर्थ प्रसंगानुसार जहाँ जैसा है वहाँ वैसा मानसपीयूषमें लिखा ही गया है। टीकाकारोंने इनके अर्थोंके भेद जो लिखे हैं वह भी इनमें दिये गये हैं। यहाँपर पं० रामकुमारजीने मोह और महामोह दोनों शब्दोंके प्रयोगका कारण यह बताया है कि पञ्चपर्वा अविद्यामें ये दोनों नाम हैं।

अवगुण इनके बीचमें वर्णन किये गये, वे सब मोह और महामोहके अन्तर्गत हैं। पुनः, (ग) अनधिकारी कुतर्कियोंका प्रसङ्ग 'मोह' से उठाकर (यथा—*'कहहिं सुनहिं अस अधम नर ग्रसे जे मोह पिसाच॥'* (११४) यहाँ महामोहपर समाप्त करनेका तात्पर्य यह है कि मोह सभी अवगुणोंका मूल है, यथा—*'मोह सकल ब्याधिन्ह कर मूला॥'* (७। १२१। २९) *'मोह मूल बहु सूलप्रद त्यागहु तम अभिमान।'* [(घ) *'महामोहमद पाना'* का भाव कि साधारण मदिरासे माते हुएके वाक्यका कोई प्रमाण नहीं करते; 'क्योंकि वे तो अनाप-शनाप बका ही करते हैं, तब जो महामोहरूपी मदिरा पीकर मतवाले हुए हैं उनकी कौन कहे? (रा० प्र०)] (ङ) ☞जो-जो श्रीरामजीमें कुतर्क करनेवाले हैं, उन-उनके नाम यहाँतक गिनाये कि इतने लोगोंकी बातें न सुननी चाहिये। यहाँतक कहनेवालोंकी छः कोटियाँ कीं। प्रत्येक कोटिमें 'कहना' है। यथा—(१) *'कहहिं सुनहिं अस'''।'* (११४) (२) *'कहहिं ते बेद असम्मत बानी।'* (३)*'जल्पहिं कल्पित बचन अनेका'* (४) *तिन्हहि कहत कछु अघटित नाहीं।'* (५)*'ते नहिं बोलहिं बचन बिचारे।'* (६) *'तिन्ह कर कहा करिय नहिं काना।'* —[(१) से (५) तक *'कहना'* क्रिया वा कथनार्थवाची शब्दका प्रयोग हुआ और अन्तमें *'कहा'* (कथन) शब्दका प्रयोग हुआ। इसका भाव यह है कि जिन-जिनका ऐसा कहना लिखा गया, उन सबोंका ही कहना न मानना चाहिये, उनपर ध्यान न देना चाहिये, उनके वचन अयोग्य हैं, वेदविरुद्ध होते हैं। मा० पी० प्र० सं०] (च) छः कोटियाँ कहनेका भाव कि ऐसे लोग छः प्रकारके हैं—(१) काण्डत्रयरहित। (२) अवगुणी। (३) निर्गुण-सगुण-विवेकरहित। (४) मायावश। (५) वातुल, भूतविवश, मद्यप। (६) महामोहवश।—महामोह भीतरकी मदिरा है और मतवालोंका मतवालापन मदिरासे है।'

प० प० प्र०—*'बातुल भूत बिबस मतवारे'* यह वचन अज्ञ, अकोविद और अंध इन तीनोंके लिये उपसंहारात्मक है। काम वात है, उससे क्रोधकी उत्पत्ति होती है। अज्ञानी विषयी जीव विषय-कामनारूपी वातसे वातुल हैं। भूत और पिशाच भिन्न हैं, यथा—*'सँग भूत प्रेत पिसाच जोगिनि'* (शिव-समाज वर्णनमें), *'जंबुक भूत प्रेत पिसाच।'* (३। २० छं० १) इत्यादि। माधवनिदानग्रन्थमें भी भूतग्रहोत्थ उन्माद और पिशाचग्रहोत्थ उन्मादके लक्षण भिन्न हैं। **'अत्यर्थवाग्विक्रमचेष्टः'** भूतोत्थ उन्मादका एक लक्षण है। वह मनुष्य लज्जास्पद आसुरी-राक्षसी वृत्तिसे बोलता है, क्रिया करता है। यह अकोविदके लिये कहा है। ऐश्वर्य-मदसे अंध ही मतवारे हैं। यथा—*'सब ते कठिन राजमदु भाई। जो अँचवत नृप मातहि तेई॥'* (२। २३१। ६-७)

*'जिन्ह कृत महामोह मद पाना'* यह वचन 'हरिमायाबश अभागी' जीवोंके लिये है। *'मायाबस मतिमंद अभागी। हृदय जवनिका बहु बिधि लागी॥ ते सठ हठबस संसय करहीं। निज अज्ञान राम पर धरहीं॥'* (७। ७३। ८-९) सतीजीने स्वयं ही कहा है कि *'मैं संकर कर कहा न माना। निज अज्ञान राम पर आना॥'* उपक्रममें इनके विषयमें कहा कि *'तिन्हहि कहत कछु अघटित नाहीं'* और उपसंहारमें कहा कि *'तिन्ह कर कहा करिअ नहिं काना'।* शेष तीन अज्ञ, अकोविद, अंध (के विषयमें कहा) *'जल्पहिं कल्पित बचन अनेका'।* शृङ्खलाके लिये। (११७। १—३ देखिये)।

वि० त्रि०—*'बातुल भूत बिबस मतवारे।'''''* यह पाँचवें हरिविमुखके विषयमें कहा जो रामगुणगान नहीं करता। रामगुणगान न करनेवालेकी बुद्धि मलिन हो जाती है, वह विचारहीन बातें बोलता है। *'जिन्ह*

---

ईश्वरकृष्णकृत सांख्यकारिकाकी 'सांख्यतत्त्व-कौमुदी' टीकामें पञ्चपर्वा अविद्याका नाम आया है। यथा—'अतएव 'पञ्चपर्वा अविद्या' इत्याह भगवान् वार्षगण्यः॥' (४७) उस प्रसंगमें कहा गया है कि योगशास्त्रमें जो पञ्चक्लेश, अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेष और अभिनिवेश बताये हैं, इन्हींको सांख्यशास्त्रने क्रमशः तम, मोह, महामोह, तामिस्र और अंधतामिस्र कहा है। तम और मोहके उसीमें आठ-आठ भेद कहे हैं और महामोहके दस। यथा—'भेदस्तमसोऽष्टविधो मोहस्य च दशविधो महामोहः॥' (४८) अव्यक्त, महत्तत्त्व, अहंकार और पञ्चतन्मात्राओंमें आत्मबुद्धि होना 'तम' है। अणिमादि अष्टसिद्धियोंमें आत्मीयत्व और शाश्वतिकत्व बुद्धि 'मोह' है और शब्दादि पञ्चविषय दिव्य और अदिव्य भेदसे दस हैं, इनमें आसक्ति होना 'महामोह' है।—यह व्याख्या सांख्यशास्त्रानुसार है।

*कृत महामोह मद पाना।......'* यह छठे प्रकारके हरिविमुखके विषयमें कहा है जो हरिचरित सुनकर हर्षित नहीं होता। मद्य पीनेवाले प्रत्यक्ष देखते हैं कि मद्यपकी बुद्धिका लोप हो जाता है। स्वयं भी बुद्धिलोपका अनुभव करते हैं। उन्हें बुद्धिलोपकी अवस्था अच्छी लगती है, वे उसीपर आसक्त हैं। इसलिये वे मद्य पीते हैं। इसी भाँति कुछ लोग ऐसे हैं कि उन्हें धर्मविरुद्ध, शास्त्रविरुद्ध तथा ईश्वरके विरुद्ध बोलना अच्छा लगता है, जानते हैं कि यह बात बुरी है, पर उन्हें व्यसन हो गया है, उसका त्याग नहीं कर सकते, जिस भाँति मद्यप मद्यके दोषोंको जानता हुआ उसको त्याग नहीं सकता, बल्कि उसकी प्रशंसा करता है। मद्यपके कहनेका न तो कोई खयाल करता है और न कोई उसका कहना मानता है। मोहमयी मदिरा तो बड़ी प्रबल है, उसे पान करनेवालेकी बात तो कभी सुननी नहीं चाहिये, वह सब कुछ कह सकता है। तुम तो परीक्षातक ले चुकी हो, तुम्हें रामकथापर रुचि है, तुमने ऐसी बात मुँहसे निकाली कैसे?

**सो०—अस निज हृदय बिचारि तजु संसय भजु राम पद।**
**सुनु गिरिराजकुमारि भ्रम तम रबिकर बचन मम॥ ११५॥**

अर्थ—अपने हृदयमें ऐसा विचारकर संदेहको छोड़ो और श्रीरामजीके चरणोंका भजन (सेवन) करो। हे गिरिजे! भ्रमरूपी अंधकारका नाश करनेवाले सूर्यकिरणरूपी हमारे वचन सुनो॥ ११५॥

टिप्पणी—१ (क) *'अस'* अर्थात् यह लोग अप्रामाणिक बात कहते हैं, इनके कथनपर कान न देना चाहिये, ऐसा। (ख) ☞ऐसा ही भुशुण्डिजीने गरुड़जीसे कहा है। यथा—*'अस बिचारि मतिधीर तजि कुतर्क संसय सकल। भजहु राम रघुबीर करुनाकर सुंदर सुखद॥'* (७। ९०) तात्पर्य यह है कि विचार करनेपर संशय चला जाता है। बिना हृदयमें विचारे संदेह दूर नहीं होता, किंतु परिताप बढ़ता जाता है। यथा—*'अनसमुझे अनसोचिबो अवसि समुझिये आपु। तुलसी आपु न समुझिये पल पल पर परितापु॥'* (दोहावली) संशय दूर होनेपर भजन बनता है। (ग) *'सुनु गिरिराजकुमारि.........'*— भाव कि जिनको पूर्व गिना आये हैं, उनके वचन न सुनो, वे भ्रममें डालनेवाले हैं; प्रत्युत हमारे वचन सुनो, क्योंकि हमारे वचन भ्रमके नाशक हैं। ☞संशय दूर करके अब भ्रमको दूर करते हैं।

वि० त्रि०—१ (क) *'अस.........तनु.........संसय'* इति। अधम नर वातुल, भूतविवश और मतवालेकी भाँति श्रुतिसिद्धान्त-विषयोंपर शंका उठाते हैं, शास्त्रविरुद्ध बातें कहते हैं। संसारसागरके पार जानेके इच्छुकोंको वेदपर विश्वास करना ही होगा। संशय और विपर्यय ये दोनों तत्परत्वके मुख्य प्रबन्धक हैं। इनका नाश विपरीत निश्चयसे होता है। अतः इस विषयकी शंका छोड़ो। रामको ब्रह्म समझकर भजो। (ख) 'सुनु'—मनन-निदिध्यासन भी 'श्रवण' के अन्तर्गत हैं। जिसने सुनकर मनन-निदिध्यासन नहीं किया, उसने वस्तुतः श्रवण ही नहीं किया, क्योंकि उसका सुनना न सुननेके बराबर है। यहाँ 'सुनु' कहकर तीसरी विनतीके उत्तरकी समाप्ति कही गयी।

☞यहाँ यह शङ्का उपस्थित होती है कि 'शिवजी पार्वतीजीसे खलोंके वचन श्रवण करनेको मना करते हैं और यह उमामहेश्वरसंवाद त्रेतायुगमें हुआ, यथा—*'एक बार त्रेताजुग माहीं। संभु गए कुंभजरिषि पाहीं॥'* ८७ हजार वर्षपर शिवजीकी समाधि छूटी, फिर सतीका मरण हुआ, पार्वतीका जन्म हुआ, ४४०० वर्ष पार्वतीजीने तप किया, तत्पश्चात् विवाह हुआ, भोग-विलासमें बहुत वर्ष बीते, उसके कुछ दिनों बाद संवाद हुआ। १२ लाख ९६ हजार वर्ष त्रेताका प्रमाण है तबतक त्रेतायुग ही रहा। तब त्रेतायुगमें खल कहाँ रहे? यथा—*'ऐसे अधम मनुज खल कृतजुग त्रेता नाहिं। द्वापर कछुक बृन्द बहु होइहहिं कलिजुग माहिं॥'* (७। ४०) इसका समाधान यह है—शिवजीने पार्वतीजीसे कहा कि *'तुम्ह रघुबीर चरन अनुरागी। कीन्हेहु प्रश्न जगतहित लागी॥'* जगत्के हितार्थ जब यह प्रश्न किये गये हैं तब यह आवश्यक हुआ ही कि इसके अधिकारी और अनधिकारियोंका वर्णन करते। किनकी बातें कान देनेसे मोह उत्पन्न होता है, यह भी बताना ही चाहिये, जिससे जगत् उनसे बचे। अतएव जगत्-हितार्थ श्रीपार्वतीजीके मिषसे जगत्को

खलोंके वचन सुननेसे मना करते हैं। शिवजी सर्वज्ञ हैं, वे जानते हैं कि आगे द्वापर और कलिमें ऐसे खल होंगे। यह उपदेश वा कथन वैसा ही है जैसा अनसूयाजीका पातिव्रत्यका उपदेश श्रीसीताजीके प्रति हुआ है, यथा *'सुनु सीता तव नामु सुमिरि नारि पतिब्रत करहिं। तोहि प्रानप्रिय राम कहेउँ कथा संसारहित॥'* (ग) *'रबिकर बचन मम'*— यहाँ वचनको सूर्यकिरण कहा है, रवि क्या है? शिवजीका ज्ञान ही रवि है, यथा *'जासु ग्यान रबि भवनिसि नासा। बचन किरन मुनि कमल बिकासा॥'* (२। २७७। १) (घ) ☞*'देखि चरित महिमा सुनत भ्रमति बुद्धि अति मोरि॥'* उमाजीके इस वचनके सम्बन्धसे यहाँ *'भ्रमतम रबिकर बचन मम'* कहा गया। यहाँ परंपरितरूपक है।

**सगुनहि अगुनहि नहिं कछु भेदा। गावहिं मुनि पुरान बुध बेदा॥ १॥**
**अगुन अरूप अलख अज जोई। भगत प्रेम बस सगुन सो होई॥ २॥**

शब्दार्थ—**सगुन अगुन**—नोट १ में देखिये। **अरूप**=व्यक्तरूप-रहित। =प्राकृतरूप-रहित, चिदानन्दरूपवाला। **अलख** (अलक्ष्य)=जो देख न पड़े।

अर्थ—सगुण और निर्गुणमें कुछ भेद नहीं, मुनि, पुराण, पण्डित और वेद (ऐसा) कहते हैं॥ १॥ जो निर्गुण, (व्यक्त) रूपरहित, अलक्ष्य और अजन्मा है वही भक्तके प्रेमके वश सगुण (व्यक्त—गुणयुक्त) होता है॥ २॥

टिप्पणी—१ *'सगुनहि अगुनहि नहिं'''''।'* इति। पूर्व दोहा (११५। ५) में कहा कि *'जिन्हके अगुन न सगुन बिबेका। जल्पहिं कल्पित बचन अनेका॥'* अब अगुन-सगुनका विवेक कहते हैं कि इनमें कोई भेद नहीं है। निर्गुण-सगुणमें कुछ भेद नहीं है, इस कथनका भाव यह है कि जैसे निर्गुणमें मोहादि विकार नहीं हैं वैसे ही सगुणमें भी विकार नहीं हैं। निर्गुणमें सगुणसे बड़ा भेद समझ पड़ता है, निर्गुणमें किञ्चित् भी विकार नहीं है और सगुणमें सभी विकार देख पड़ते हैं (यद्यपि वस्तुतः ये भी विकार नहीं हैं), इसीसे इनमें अभेद कहा। दोनोंमें अभेद है, कोई भी भेद नहीं है, इसमें 'मुनि पुराण, बुध और वेद' का प्रमाण देते हैं—*'गावहिं मुनि'''''*'।

## * सिद्धान्त *

☞१—समन्वयसिद्धान्तानुसार ब्रह्म वस्तुतः गुणसामान्यभावयुक्त है ही नहीं। वह सदा दया, क्षमा, वात्सल्य आदि दिव्य गुणों और सम्यक् ऐश्वर्योंसे युक्त है। दिव्य गुणोंकी दो अवस्थाएँ हैं। एक व्यक्त, दूसरी अव्यक्त। जब दिव्य गुण अव्यक्त अवस्थामें रहते हैं तब ब्रह्मको निर्गुण वा अगुण कहा जाता है। अगुण=अ (नहीं)+(व्यक्त) गुण।=नहीं हैं व्यक्त गुण जिसमें। अथवा, अगुण=अव्यक्त हैं गुण जिसके। यह मध्यमपदलोपी समासद्वारा अर्थ होगा।

'अगुण' का अर्थ मानसके बहुतेरे प्रसङ्गोंमें इसी प्रकार होगा। गोस्वामीजीका अभिप्राय भी यही जान पड़ता है जैसा कि अनेक प्रसङ्गोंपर विचार करनेसे सिद्ध होता है; यथा *'अगुन सगुन दुइ ब्रह्म सरूपा। अकथ अगाध अनादि अनूपा॥'''''''एक दारुगत देखिय एकू। पावक सम जुग ब्रह्म बिबेकू॥'''''''निर्गुन तें एहि भाँति बड़ नाम प्रभाउ अपार।'* (१। २३), *'जद्यपि ब्रह्म अखंड अनंता। अनुभवगम्य भजहिं जेहि संता॥ अस तव रूप बखानउँ जानउँ। फिरि फिरि सगुन ब्रह्म रति मानउँ॥'* (३। १३)—(इसमें यद्यपि *'अगुन'* शब्द नहीं है परन्तु अन्तिम चरणके *'सगुन'* शब्दसे स्पष्ट है कि प्रथम दो चरणोंमें 'निर्गुण' स्वरूपका वर्णन है), *''लागे करन ब्रह्म उपदेसा। अज अद्वैत अगुन हृदयेसा॥ अकल अनीह अनाम अरूपा। अनुभवगम्य अखंड अनूपा॥'''''''बिबिध भाँति मोहि मुनि समुझावा। निर्गुन मत मम हृदय न आवा॥'* (७। १११) इत्यादि। और *'कोउ ब्रह्म निर्गुन ध्याव अव्यक्त जेहि श्रुति गाव॥'* (६। ११३) में तो स्पष्ट ही कर दिया गया है।

यद्यपि 'निर्गुण' शब्दका अर्थ समन्वय सिद्धान्तके विद्वानोंने 'मायिक गुणोंसे रहित' किया है तथापि यह अर्थ मानसके ऐसे-ऐसे कतिपय प्रसङ्गोंमें सङ्गत नहीं होता।

जैसे कि प्रकृत-प्रसङ्गमें *'सगुनहि अगुनहि नहिं कछु भेदा'* से जना रहे हैं कि सगुण और अगुण दो भिन्न-भिन्न अवस्थाएँ हैं जो अनुभवमें आती हैं। आपाततः भिन्न अवस्था होनेसे इनको दो मान सकते हैं, परंतु विचारपूर्वक सूक्ष्म दृष्टिसे देखनेपर उनमें भेद नहीं है, यही बात यहाँ कही गयी है। अब *'अगुन'* का अर्थ 'मायिक गुणोंसे रहित' लेनेसे यह आपत्ति पड़ती है कि तब सांनिध्यात् 'सगुण' का अर्थ भी उसी ढंगसे 'मायिक गुणोंसे युक्त' होगा जो अत्यन्त अनिष्ट है। दूसरे, जो मायिक गुणोंसे रहित है वह दिव्य गुणोंसे युक्त है, इस कथनसे कोई विशेषता नहीं आती। तीसरे, 'मायिक गुणोंसे रहित' और 'दिव्य गुणोंसे युक्त' ये विशेषण व्यक्त और अव्यक्त दोनों अवस्थाओंमें समानरूपसे लग सकते हैं तब फिर *'नहिं कछु भेदा'* शब्दोंका महत्त्व ही क्या रह जाता है?

२—अद्वैत-सिद्धान्तमें ब्रह्मको निर्गुण अर्थात् दिव्य (सात्त्विक) और अदिव्य (राजस-तामस) सर्वगुणोंसे रहित केवल सच्चिदानन्दस्वरूप माना जाता है। ध्यान रहे कि 'सच्चिदानन्द' गुण नहीं है किंतु ब्रह्मका स्वरूप ही है। उपनिषद्, पुराण आदिमें जो माया प्रकृति, अव्यक्त आदि नामोंसे कही जाती है, वह ब्रह्मकी शक्ति है। उसके सत्त्व, रज और तम ये तीन गुण हैं। मायामें ये तीनों गुण समान अवस्थामें रहते हैं। जब इन गुणोंमें मिश्रण आरम्भ होता है तब महत्तत्त्व, अहङ्कार, पञ्चतन्मात्रा, पञ्चमहाभूत आदि सब सृष्टि अनुभवमें आती है। इस मायाके दो भेद हैं—विद्या और अविद्या। विद्योपाधि ब्रह्मको ईश्वर कहा जाता है। यह ईश्वर कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुं समर्थ एवं भक्तवत्सल तथा दया, क्षमा आदि गुणोंसे युक्त है। यद्यपि ये सब गुण मायाके हैं, ब्रह्मके नहीं, तथापि माया स्वयं जड है, उसको स्वयं कुछ बल नहीं है, वह चिद्रूप ब्रह्मके आश्रयसे ही सब कुछ करती है; जैसा मानसमें ही कहा है—*'एक रचइ जग गुन बस जाकें। प्रभु प्रेरित नहि निज बल ताकें॥'* (३। १५। ६) अतः इन मायाके गुणोंका आदि आश्रय होनेसे ब्रह्मको 'सगुण' कहा जाता है परंतु वह वस्तुतः है निर्गुण।

सत्त्व गुण भी मायाका ही है तथापि मायाका परिवार जहाँ-जहाँ गिनाया गया है वहाँ-वहाँ काम-क्रोधादि राजस-तामस गुणोंका ही उल्लेख मिलता है; जिससे स्पष्ट है कि दया, क्षमा, वात्सल्य आदि सात्त्विक गुण जो कि साधारण जीवोंतकमें देख पड़ते हैं वे जीवको मायासे छुड़ानेवाले हैं। इसीसे उनको मायाके परिवारमें नहीं गिनाया गया। जैसे मोक्षादिकी कामना कामना नहीं कही जाती, वैसे ही सात्त्विक गुण मायाके होनेपर भी उनकी गणना मायामें नहीं की जाती। अतः जैसे जीवोंके सात्त्विक गुण मायामें नहीं गिने जाते वैसे ही ईश्वरके जो शुद्ध सात्त्विक गुण हैं वे भी मायाके नहीं माने जाकर ईश्वरके ही माने जाते हैं। यद्यपि वे गुण हैं मायाके ही।

टिप्पणी—२ *'गावहिं मुनि पुरान बुध बेदा'* इति। अर्थात् हमारे इस वाक्यके कि *'सगुनहि अगुनहि नहिं कछु भेदा'* ये सब प्रमाण हैं। *'सगुनहि·······'* ये वचन शिवजीके हैं। इन वचनोंको कहकर वे जनाते हैं कि हम भी यही कहते हैं। यथा—*'सुनु गिरिराजकुमारि भ्रम तम रबिकर बचन मम।'* यही प्रथम वचन है।

वि० त्रि०—शास्त्रका अनुवाद बाँच लेनेसे कोई शास्त्रके मर्मको नहीं जान सकता। उसे तो गुरुपरम्परासे मननशील महात्मा लोग जानते हैं। अतः वेद-पुराणके साथ ही, मुनि और बुधको भी प्रमाण दे रहे हैं।

नोट—मुनि, पुराण, बुध और वेदोंके गानेके प्रमाण, यथा (क्रमसे)—

(क) **'निरञ्जनं निष्प्रतिमं निरीहं निराश्रयं निष्कलमप्रपञ्चम्। नित्यं ध्रुवं निर्विषयस्वरूपं निरन्तरं राममहं भजामि॥', रामः सत्यं परं ब्रह्म रामात् किंचिन्न विद्यते। तस्माद्रामस्वरूपोऽयं सत्यं सत्यमिदं जगत्॥'** (रा० स्तव० ५६, ९४) अर्थात् निर्मल, निरुपम, इच्छासे रहित, जिनको किसीका आश्रय नहीं है, निरवयव, प्रपंचसे रहित, अविनाशी, जिनका स्वरूप निर्विषय है—ऐसे श्रीरामजीको मैं निरन्तर भजता हूँ॥ ५६॥ श्रीरामजी ही सत्य परब्रह्म हैं। उनके बिना और कुछ नहीं है, अतः यह जगत् श्रीरामजीका ही स्वरूप है (यह बात) सत्य है और यह जगत् भी सत्य है, सत्य है॥ ९४॥

(ख) '**सत्त्वादयो न सन्तीशे यत्र च प्राकृता गुणाः। स शुद्धः सर्वशुद्धेभ्यः पुमानाद्यः प्रसीदतु॥ योऽसौ निर्गुणः प्रोक्तः शास्त्रेषु जगदीश्वरः। प्राकृतैर्हेयसत्त्वाद्यैर्गुणहीनत्वमुच्यते॥**' (विष्णुपु०) अर्थात् सत्त्व, रज और तम ये प्रकृतिके गुण हैं। ये गुण भगवान्‌में नहीं हैं, वह सर्व शुद्ध पदार्थोंसे शुद्ध है। वह आदिपुरुष (मेरे ऊपर) प्रसन्न हों। शास्त्रोंमें जो भगवान्‌को निर्गुण कहा जाता है इसका तात्पर्य यह है कि भगवान् मायाके तुच्छ गुणोंसे रहित हैं।

पुनश्च '**परमानन्दसंदोहो ज्ञानमात्रश्च सर्वशः। सर्वैर्गुणैः परिपूर्णः सर्वदोषविवर्जितः॥**' (वराहपु०) अर्थात् वह परमात्मा श्रेष्ठ आनन्दसे परिपूर्ण, ज्ञानस्वरूप और सर्वव्यापक है। वह सर्व (दिव्य) गुणोंसे परिपूर्ण और सर्व दोषोंसे रहित है।

'**समस्तकल्याणगुणात्मकोऽसौ स्वशक्तिलेशाद्धृतभूतसर्गः। तेजोबलैश्वर्यमहावबोधसुवीर्यशक्त्यादिगुणैकराशिः॥ परः पराणां सकला न यत्र क्लेशादयः सन्ति परावरेशे॥**' (विष्णुपु० ६। ५। ८४-८५) अर्थात् सर्वमङ्गलकारी गुणोंसे युक्त, अपनी शक्तिके लेशमात्रसे जो अनन्त ब्रह्माण्डोंको धारण करते हैं, जो तेज, बल, ऐश्वर्य आदि गुणोंसे युक्त हैं (हमलोगोंकी दृष्टिसे) श्रेष्ठ (देवता आदि) जिसकी अपेक्षा छोटे हैं, ऐसे जिस ईश्वरमें क्लेश आदि कुछ भी नहीं हैं वे बड़ोंके भी बड़े हैं।

'**समस्तहेयरहितं विष्णवाख्यं परमं पदम्**' (विष्णुपु० १। २२। ५३) विष्णु जिनका नाम है, ऐसा श्रेष्ठ पद सर्वत्याज्य (गुण आदि) से रहित है।

(ग) '**निर्गुणवादाश्च परस्य ब्रह्मणो हेयगुणासम्बन्धाद्युपपद्यन्ते**' (जगद्गुरु श्रीरामानुजाचार्यजी। श्रीभाष्य)। अर्थात् परब्रह्मके विषयमें (श्रुति-पुराणादिमें) जो निर्गुणबोधक वाक्य मिलते हैं उनका परब्रह्ममें त्याज्य गुणोंका सम्बन्ध न होनेसे प्रतिपादन किया जाता है। '**स्वभावतोऽपास्तसमस्तदोषमशेषकल्याणगुणैकराशिम्।**' (जगद्गुरु श्रीनिम्बार्काचार्यजी) अर्थात् समस्त दोषोंसे रहित और स्वभावतः जिनमें कल्याणकारी दिव्य गुणोंका एक समूह स्थित है।

**प्राकृतगुणरहितत्वेन दिव्यगुणवत्त्वेन च निर्गुणसगुणपदवाच्यं ब्रह्म एकमेव।**' (बिन्दुगाद्याचार्य जगद्गुरु श्रीरामप्रसादाचार्यजी) प्राकृत गुणोंसे रहित होनेसे निर्गुण और दिव्यगुणोंसे युक्त होनेसे सगुण शब्दोंसे कहा जानेवाला परब्रह्म एक ही है।

(घ) '**परास्य शक्तिर्विविधैव श्रूयते स्वाभाविकी ज्ञानबलक्रिया च।**' (श्वेताश्वतर-उ० ६—८) इसपर ब्रह्मकी स्वाभाविक ज्ञानबलक्रियात्मक विविध पराशक्ति सुनी जाती है। '**य आत्मापहतपाप्मा विजरो विमृत्युर्विशोको विजिघत्सोऽपिपासः सत्यकामः सत्यसङ्कल्पः।**' (छान्दोग्य-उ० ८। ७। १) अर्थात् आत्मा पाप, जरा, मृत्यु, क्षुधा, पिपासादिसे रहित और सत्यकाम, सत्यसंकल्प है।

टिप्पणी—३ '*अगुन अरूप अलख अज जोई।*·······' इति। (क) यह श्रीपार्वतीजीके '***राम सो अवध नृपति सुत सोई। की अज अगुन अलख गति कोई॥***' इस प्रश्नका उत्तर है। चारों विशेषणोंका स्वरूप आगे दृष्टान्तद्वारा दिखाते हैं। (ख) '***भगत प्रेम बस सगुन सो होई***' यह सगुण होनेका हेतु कहते हैं, यथा—'***तुम्ह सारिखे संत प्रिय मोरे। धरौं देह नहिं आन निहोरे॥***' (५। ४८) '***ब्यापक बिस्वरूप भगवाना। तेहि धरि देह चरित कृत नाना॥ सो केवल भगतन्ह हित लागी। परम कृपाल प्रनत अनुरागी॥***' (१। १३) '***भगत हेतु भगवान प्रभु राम धरेउ तन भूप।***' (७। ७२) भगवती श्रुति कहती है—'**उपासकानां कार्यार्थं ब्रह्मणो रूपकल्पना**' (रा० पू० ता०)। यह पार्वतीजीके प्रथम प्रश्न '***प्रथम सो कारन कहहु बिचारी। निर्गुन ब्रह्म सगुन बपु धारी॥***' (११०। ४) का उत्तर यहाँसे चला।

मा० त० वि०—जो अगुण अर्थात् सच्चिदानन्दमात्र है, अरूप अर्थात् प्राकृत रूपरहित अनादिरूप है, अलख अर्थात् प्राकृत दृष्टिसे गोचर नहीं किंतु निज शक्तिसे (गोचर होता है) और जो अज है अर्थात् माता-पिताके रजवीर्यसे उत्पन्न नहीं, वही भक्तके प्रेमके कारण सगुण होता है, जब भक्तको देखा कि वह तदाश्रय, तल्लीन, तद्रूप हो गया, फिर तो सगुणरूप बना-का-बना ही है अर्थात् स्वतन्त्र सच्चिदानन्दरूप

हो किसीको साकेतादि सर्वोत्कृष्ट लोकोंमें अद्भुत लीलासम्पन्न, किसीको पुत्र-सा इत्यादि यथायोग्य भावात्मक प्रेमकी बाहुल्यतासे न कि जीवोंकी तरह परतन्त्र, अल्पज्ञ आदि गुणविशिष्ट हो जाता है। ऐसे निर्विशेष तत्त्वका सविशेष होना कैसे सिद्ध होता है यह आगे कहते हैं *'जल हिम'''''''।'*

वि० त्रि०—अगुण, अरूप, अव्यक्त और अज जिस ब्रह्मको कहते हैं, वह भक्तके प्रेमके वश हो जाता है। जैसा भक्त चाहता है वैसा वह बन जाता है। यथा—**'यो यो यां यां तनुं भक्तः श्रद्धयार्चितुमिच्छति। तस्य तस्याचलां श्रद्धां तामेव विदधाम्यहम्।'** (गीता ७। २१) वह निर्गुणसे सगुण, अरूपसे रूपवान्, अव्यक्तसे व्यक्त और अजसे जन्मवाला हो जाता है।

वे० भू०—भाव यह है कि जो अगुण है अर्थात् सच्चिदानन्दमात्र है, प्राकृत गुण (जैसे काम-क्रोधादि) रहित है, जो प्राकृतरूप श्यामत्व, गौरत्व तथा बाल, पौगण्ड, युवा आदि अवस्थापन्न-रूपरहित है वा जिसका रूप अनादि है, जो अलख है अर्थात् जो प्राकृत नेत्रादि इन्द्रियोंसे अगोचर है, किंतु अपनी शक्तिसे ही गोचर होता है, जो माता-पिताके वीर्यसे उत्पन्न नहीं एवं जिनका जन्म-मरणादि विकारोंसे रहित शुद्ध सत्त्वात्मक विग्रह है, वे ही भगवान् भक्तोंके प्रेमवश दिखानेमात्रको प्राकृत गुणोंका भी ग्रहण करते हैं। यथा—**'शुद्धं स्वधाम्न्युपरताखिलबुद्ध्यवस्थं चिन्मात्रमेकमभयं प्रतिषिध्य मायाम्। तिष्ठंस्तयैव पुरुषत्वमुपेत्य तस्यामास्ते भवानपरिशुद्ध इवात्मतन्त्रः॥** (भा० ४। ७। २६) ***'मनहु महा बिरही अति कामी।'*** (३। ३०। १६) ***'नारि बिरह दुख लहेउ अपारा। भयो रोष रन रावन मारा॥'*** तथा प्राकृत रूपोचित अवस्थाओंका ग्रहण भी अपने दिव्य विग्रहमें करते हैं; यथा-***'भये कुमार जबहिं सब भ्राता।'*** (१। २०४) ***'बय किसोर सुषमासदन'''''।'*** १। २२०) इत्यादि। इसीसे प्राकृत इन्द्रियोंसे ग्राह्य भी होते हैं, यथा—***'नयन बिषय मो कहँ भयेउ।'*** (१। ३४१) ***'समरथ धाइ बिलोकहिं जाई।'''''''*** (२। १२१) ***'सब सिसु एहि मिस प्रेम बस परसि मनोहर गात। तन पुलकहिं अति हरषु हिय देखि देखि दोउ भ्रात॥'*** (१। २२४) इत्यादि।

**जो गुन रहित सगुन सोइ कैसें। जलु हिम उपल बिलग नहिं जैसें॥ ३॥**

शब्दार्थ—**हिम उपल**=बर्फका पत्थर अर्थात् ओला। **बिलग**=अलग, भेदवाले।

अर्थ—जो गुणरहित है वही सगुण है। (यह) कैसे? जैसे जल और ओलेमें भेद नहीं॥ ३॥

टिप्पणी—१ (क) श्रीपार्वतीजीको संदेह था कि निर्गुण ब्रह्म सगुण नहीं होता, यथा—***'ब्रह्म जो ब्यापक बिरज अज अकल अनीह अभेद। सो कि देह धरि होइ नर जाहि न जानत बेद॥'*** (१। ५०) श्रीशिवजीने निर्गुणका सगुण होना कहकर उनका यह संदेह दूर किया। आगे दोहेतक श्रीरामरूपमें जो संदेह है उसे दूर करते हैं। (ख) ***'जलु हिम उपल बिलग नहि जैसें'*** इति। अर्थात् जैसे जल और हिम-उपलमें कुछ भेद नहीं है, इसी प्रकार अगुण और सगुणमें भेद नहीं है। जो अरूप था उसका रूप इस प्रकारसे हुआ जैसे जलसे हिम-उपल हुआ, जो अगुण था वह ऐसा सगुण हुआ जैसे हिम-उपल, तथा जो अलख था वह ऐसा लख पड़ा, जो अज था उसने इस प्रकार जन्म लिया। ☞हिम-उपलमें ही सब दिखा दिया। प्रथम जो जल था वही कारण पाकर पत्थर (ओला) हुआ और फिर जल हो गया। ऐसे ही जो प्रथम निर्गुण था वह (भक्तप्रेमरूपी) कारण पाकर सगुण (व्यक्त गुणवाला) हुआ और फिर निर्गुण (अव्यक्त गुणवाला) हो गया। [(ग) जो निर्गुण है वह सगुणरूप कैसे धारण करता है, इसका उत्तर यहाँ दिया कि जो निर्गुण है वही सगुण है जैसे जल और ओला। भाव कि तुम सगुणमें विकार आरोपण करती हो, वस्तुतः उसमें विकार है नहीं। जैसे जल निर्विकार है वैसे ही ओला भी। ओला भी जल ही है और कुछ नहीं। वैसे ही सगुण और निर्गुणमें भेद नहीं। (खर्रा)]

मा० त० वि०—जल कारण पाकर ओला बन गया, पर ज्यों-का-त्यों स्वयमेव रसरूप ही है न कि औरका और हो गया।

नोट—***'जलु हिम उपल'*** का दृष्टान्त देनेका तात्पर्य यह है कि जैसे जलमें कठिनता, बर्तुलाकार और विशिष्ट श्वेतता आदि गुण प्रथम देखनेमें नहीं आते, परंतु जब शैत्यसंयोग होता है तब बिना किसी

अन्य वस्तुके मिलाये ही वह बर्फ बन जाता है, उस समय उसमें ये सब गुण प्रकट हो जाते हैं और तदनुसार उसका नाम भी दूसरा हो जाता है। अज्ञानी लोग इसे जलसे भिन्न समझते हैं पर ज्ञानी इसमें और जलमें अभेद मानेंगे। यदि जलमें कोई अन्य वस्तु मिलनेसे ओला बनता तो कहा जा सकता था कि उपर्युक्त धर्म उस मिलाये हुए वस्तुके हैं, पर इसमें कोई अन्य वस्तु न मिलानेपर भी ये गुणधर्म उत्पन्न होते हैं, अतः यह सिद्ध है कि ये गुणधर्म पूर्व ही स्थित थे, प्रथम अव्यक्त थे, अब व्यक्त हो गये। जैसे कोई अपरिचित मनुष्य हमारे सामने आवे तो हम उसे मनुष्य ही कहते हैं। यदि वह गाने लगा तो हम उसे गवैया कहेंगे अर्थात् गुणके प्रकट होनेपर हम कहेंगे कि गवैया आया है। यदि हम उस मनुष्यके गुण पहलेसे ही जानते हैं तो न गानेपर भी हम उसे गवैया ही कहते हैं। इसी तरह अव्यक्त ब्रह्मको न जाननेपर हम उसके गुण प्रकट होनेपर उसे सगुण कहते हैं और उसके गुण पूर्वसे ही जाननेपर अव्यक्तावस्थामें भी हम उसे उन गुणोंसे युक्त कहते हैं। जैसे अव्यक्तावस्थामें भी '***जय जय सुरनायक जन सुखदायक प्रनतपाल भगवंता*……' आदि कहकर स्तुति की गयी है और सगुण होनेपर भी उसको '***जय सगुन निर्गुन रूप अनूप भूप सिरोमने।*……' आदि कहा है।

वेदान्तभूषणजी—जल और ओलेमें केवल द्रवत्व और कठिनत्वका भेद रहता है। अर्थात् वही पदार्थ जब द्रवत्वरहित तथा कठिनत्वविशिष्ट रहता है तब ओला कहा जाता है और जब द्रवत्वविशिष्ट तथा कठिनत्वरहित रहता है तब जल कहा जाता है। केवल द्रवत्व एवं कठिनत्वके उद्भूतानुद्भूतके कारण वह दो नामसे कहा जाता है। '**तासां त्रिवृतं त्रिवृतमेकैकामकरोत्।**' (छान्दोग्य० ६। ३। ४) के अनुसार अप्-तत्त्वमें चतुर्थांश तेजतत्त्व तथा चतुर्थांश पृथ्वीतत्त्व है, इसलिये जिस समय तेजतत्त्वकी अधिकता रहती है उस समय अप्तत्त्व द्रवत्वाधिक्यके कारण जल कहा जाता है और जिस समय पृथ्वीतत्त्वकी अधिकता रहती है उस समय अप्तत्त्व कठोरतायुक्त होनेके कारण हिम, उपल, ओला, बर्फ आदि कहलाता है। केवल इसके अतिरिक्त जल और ओलेमें कोई भेद नहीं रहता। इसी तरह स्वाभाविक दिव्य गुणविशिष्ट सगुण और स्वाभाविक हेयगुणरहित निर्गुणमें केवल ऐश्वर्य तथा माधुर्यके गोपनत्व एवं प्रदर्शनत्वमात्रका भेद रहता है। अर्थात् जब ब्रह्म अपने ऐश्वर्यके आधिक्यका गोपन करके माधुर्यके आधिक्यका प्रदर्शन प्राकृत इन्द्रियविशिष्ट जीवोंको कराता है तब सगुण और जब माधुर्याधिक्यका गोपन करके केवल शास्त्रोंद्वारा ऐश्वर्याधिक्यका प्रदर्शन कराता है तब निर्गुण कहा जाता है। जिस तरह अप्तत्त्वके द्रवत्व एवं कठिनत्वका कारण तेज एवं पृथ्वीतत्त्वकी उद्भूतता तथा अनुद्भूतता है उसी तरह ब्रह्मके उभयरूप प्रदर्शनत्वका कारण '***भगत प्रेम बस सगुन सो होई*', '***सोइ दसरथ सुत भगत हित कोसलपति भगवान***' इत्यादिके अनुसार भक्तपरवशता करुणा आदिको प्रकट करनेसे सगुण तथा इससे भिन्न ईश्वरत्व प्रदर्शनकालमें निर्गुण कहलाता है।

वि० त्रि०—शास्त्रकी मर्यादा कहकर अब उसी मर्यादाके भीतर तर्क भी दे देते हैं। प्रश्न यह है कि निर्गुण और सगुण दोनों परस्पर विरोधी पदार्थ हैं, एकमें ही विरुद्धधर्माश्रयत्व कैसे सम्भव है? उत्तर देते हैं कि दो पदार्थ नहीं हैं, अवस्थाभेदसे स्वरूपमें भेद मालूम पड़ता है। वास्तवमें भेद कुछ नहीं। जैसे जलका स्वाभाविक गुण द्रवत्व है, परन्तु शीतके वश होकर उसमें दृढ़ता आ जाती है और वह पत्थर-सा दृढ़ हो जाता है, जो बात उसमें नहीं थी वह आ जाती है।—इस भाँति '***जौं नृप तनय त ब्रह्म किमि***' इस मोहांशको मिटाया।

## जासु नाम भ्रम तिमिर पतंगा। तेहि किमि कहिअ बिमोह प्रसंगा॥४॥

शब्दार्थ—**तिमिर**=अन्धकार। **पतंग**-सूर्य। **प्रसंग** (सं०)-घनिष्ठ सम्बन्ध, सम्बन्ध-प्राप्ति।*

अर्थ—जिसका नाम भ्रमरूपी अन्धकार (नष्ट करनेके) लिये सूर्यके समान है उसमें मोहका सम्बन्ध कैसे कहा जा सकता है? ॥४॥

* प्रथम संस्करणमें 'प्रसंग' का अर्थ 'चर्चा' लिखा गया था और इस चरणका अर्थ उसके सम्बन्धमें मोहकी चर्चा कैसे ला सकते हैं किया गया था।

टिप्पणी—१ (क) प्रथम कथाका माहात्म्य कहा, यथा—*'रामकथा सुरधेनु सम सेवत सब सुखदानि।* ''''''११३।''*रामकथा सुंदर करतारी। संसय बिहग उड़ावनि हारी॥ रामकथा कलि बिटप कुठारी। सादर सुनु गिरिराजकुमारी॥'* इत्यादि; अब नाममाहात्म्य कहते हैं—*'जासु नाम भ्रम''''।'* और आगे रूपमाहात्म्य कहते हैं। (ख)—(यहाँ पार्वतीजीके *'नारि बिरह मति भोरि'* का उत्तर है) (ग)*'जासु नाम भ्रम तिमिर पतंगा'* इति। अर्थात् जिनका नाम लेनेसे दूसरोंके भ्रम मिट जाते हैं; यथा—*सेवक सुमिरत नामु सप्रीती। बिनु श्रम प्रबल मोह दलु जीती॥''''''* (१। २५। ७) [भाव कि प्रभुका तो नाममात्र भ्रमका नाशक है। जहाँ सूर्य प्रकाशमान है वहाँ अन्धकार कैसा? नामके तेजके सम्मुख मोह जा ही नहीं सकता; यथा—*'दिनकर के उदय जैसे तिमिर तोम फटत।'* (विनय०) (घ)*'तेहि किमि कहिअ बिमोह प्रसंगा'* अर्थात् जिसके नाममें यह गुण है कि वह दूसरेके मोह-भ्रमको दूर कर देता है, उसमें मोह-सम्बन्धप्राप्ति असम्भव है, उसमें मोह होनेकी चर्चा चलाना अयोग्य है, मोह होना तो कोसों दूर है। भाव यह कि भ्रम अपनेमें है, उसमें मोहका लेश सम्बन्ध नहीं है। पार्वतीजीने जो कहा था कि *'खोजै सो कि अग्य इव नारी।'* (१। ५१। २) यही विमोह-प्रसंग है, जिसकी ओर यहाँ इशारा है। (यह समाधान 'कैमुतिकन्याय' से किया गया है। जिसने बड़े-बड़े काम किये उसे छोटा काम क्या बड़ी बात है।)]

नोट—भुशुण्डिजीने भी ऐसा ही कहा है। यथा—*'निर्मल निराकार निर्मोहा। नित्य निरंजन सुख संदोहा॥ प्रकृति पार प्रभु सब उर बासी। ब्रह्म निरीह बिरज अबिनासी॥ इहाँ मोह कर कारन नाहीं। रबि सनमुख तम कबहुँ कि जाहीं॥'* (७। ७२) यहाँ परम्परित रूपक और वक्रोक्तिका मिश्रण है।

वि० त्रि०—नाम और रूप मायाके अंश हैं, इसलिये उन्हें उपाधि कहा। यथा—*'नाम रूप दुइ ईस उपाधी।'* स्वरूप तो उनका सच्चिदानन्द है पर इस नाम-उपाधिमें, जिसके सम्बन्धसे ऐसा सामर्थ्य आ जाता है कि सूर्यकान्तमणिकी भाँति पापरूपी रूईकी राशिको भस्म करके ज्ञानका कारण होता है, वह विरह-विकल नहीं हो सकता।

**राम सच्चिदानंद दिनेसा। नहिं तहँ मोह निसा लव लेसा॥ ५॥**
**सहज प्रकासरूप भगवाना। नहिं तहँ पुनि बिग्यान बिहाना॥ ६॥**

शब्दार्थ—**दिनेसा** (दिनेश)=दिनके स्वामी; सूर्य। **लव लेसा** (लव लेश)=किञ्चित् भी, लेश वा नाममात्र। **बिहाना**=सबेरा।

अर्थ—श्रीरामचन्द्रजी सच्चिदानन्द (रूप) सूर्य हैं। वहाँ मोहरूपी रात्रिका लेशमात्र नहीं है॥ ५॥ वे स्वाभाविक ही प्रकाशरूप और भगवान् (षडैश्वर्ययुक्त) हैं। वहाँ विज्ञानरूपी सबेरा ही नहीं होता॥ ६॥

टिप्पणी—१ (क) *'राम सच्चिदानंद'* का भाव कि सच्चिदानन्दरूपमें मोहादि विकार नहीं हैं; इसीसे ऐश्वर्यमें सच्चिदानन्द कहते हैं; यथा—*'जय सच्चिदानंद जग पावन।'* (१। ५०) *'तिन्ह नृपसुतहि कीन्ह परनामा। कहि सच्चिदानंद परधामा॥'* (१। ५०) *'जानेउँ राम प्रताप प्रभु चिदानंद संदोह'* (७। ५२)*'उमा अवधबासी नर नारि कृतारथ रूप। ब्रह्मसच्चिदानंदघन रघुनायक जहँ भूप॥'* (७। ४७) *'सोइ सच्चिदानंद घन रामा। अज बिग्यान रूप बलधामा॥'''' ॥'* (७। ७२) *'चिदानंद संदोह राम बिकल कारन कवन।'* (७। ६८) *'प्राकृत सिसु इव लीला देखि भएउ मोहि मोह। कवन चरित्र करत प्रभु चिदानंद संदोह॥'* (७। ७७) इत्यादि, तथा यहाँ *'राम सच्चिदानंद दिनेसा।'* कहा। (ख) नामको सूर्य कह आये; यथा—*'जासु नाम भ्रम तिमिर पतंगा।'* अब रूपको सूर्य कहते हैं। इस तरह नाम-नामीसे अभेद दिखाया।—[ **'न भेदो नामनामिनोः।'** पुनः भाव कि—(१) पहले दूसरेके अन्धकारको दूर करना कहा। फिर स्वयंप्रकाशरूप होना कहकर दर्शित किया कि उनके पास तो अन्धकार जा ही नहीं सकता। (२) नामको पहले कहा, क्योंकि नामके अभ्याससे रूपका साक्षात्कार होता है।]

नोट—१ *'राम सच्चिदानंद दिनेसा'* का भाव कि जैसे सूर्योदय होता है तो किसीको बतलाना नहीं पड़ता कि यह सूर्य है, सब देखकर आप ही जान लेते हैं, वैसे ही श्रीरामजीके रूप, चरित्र, गुण आदि

देखकर उन्हें सच्चिदानंद भगवान् मानना ही पड़ता है, प्रमाणकी आवश्यकता नहीं रहती। परशुरामगर्वदलन, बालिवध, खरदूषणवध, सेतुबन्धन इत्यादि प्रसङ्ग ऐसे ही हैं। *'सच्चिदानंद'* पद देकर सूर्यसे इनमें विशेषता दिखायी। (मा० पी० प्र० सं०)

टिप्पणी—२ *'नहिं तहँ मोह निसा लव लेसा'* इति। भाव कि सूर्यके पास रात्रि नहीं होती, इसी प्रकार सच्चिदानन्दरूपमें मोह नहीं होता। यथा—**'चिदानंद संदोह मोहापहारी।'** (७। १०८) सूर्य रात्रिका 'अपहारी' है, वैसे ही सच्चिदानन्द *'मोहापहारी'* है। (यहाँ परम्परित रूपक अलंकार है।)

टिप्पणी—३ *'सहज प्रकासरूप भगवाना।'*······ 'इति। (क) भगवान्‌से सूचित किया कि समस्त ब्रह्माण्डोंके तथा मायाके पति हैं; यथा—*'सोइ रामु ब्यापक ब्रह्म भुवननिकायपति मायाधनी। अवतरेउ अपने भगत हित निजतंत्र नित रघुकुलमनी॥'* (१। ५१) (ख) *'नहिं तहँ मोह निसा लव लेसा'* कथनसे पाया वा समझा गया कि मोह नहीं है तो ज्ञानरूपी बिहान है, अतएव उसके निराकरणार्थ कहते हैं कि *'सहज प्रकासरूप भगवाना।'*······*।'* [भाव कि जिस प्रकार सूर्य सहज प्रकाशरूप है, उसमें अन्धकार या निशाका लेश नहीं, दिनका भी प्रवेश नहीं; पृथ्वीके जिस भागमें उसकी विद्यमानता होती है, वहाँ दिनकी कल्पना की जाती है और जहाँ उसका अभाव रहता है वहाँ रात्रिकी भावना होती है, अर्थात् उसकी अभाव-दशाको रात्रि कहते हैं और भावकी अवस्थाको दिन; वस्तुतः उसमें इन दोनोंकी सम्भावना नहीं, वह शुद्ध और सहज प्रकाशरूप है; यथा—**'सहजप्रकाशरूपे च रवौ न निशा न दिनम्।'** इसी तरह सच्चिदानन्द भगवान् परम ज्ञानके तत्त्वभूत स्वतः और स्वाभाविक प्रकाशमय अविच्छिन्न ज्ञानके सूर्य हैं। इसलिये उन्हें ज्ञानकी अपेक्षा नहीं।—*'देखिय रबिहि कि दीप कर लीन्हे।'* वहाँ न अज्ञान है न ज्ञान, ज्ञान वा अज्ञान होना जीवधर्म है, जैसा आगे कहते हैं। जैसे रातकी अपेक्षा दिन है वैसे ही पहले अज्ञान होता है तब ज्ञान होता है; यह बात यहाँ नहीं है। यहाँ तो एकरस स्वतः प्रकाश है। प्रभु स्वतः प्रकाशरूप हैं और उनका बड़ा भारी ऐश्वर्य है। *'नहिं तहँ मोह निसा'*······*'* से दिखाया कि उनमें अज्ञान नहीं है और*'नहिं तहँ पुनि बिग्यान बिहाना'* से दिखाया कि ज्ञान भी नहीं है।]

पुनः, (ग)*'सहज प्रकासरूप'* कहकर जनाया कि सूर्य सहज प्रकाशरूप नहीं है। वह श्रीसीतारामजीहीसे प्रकाश पाता है। यथा—**'यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्। यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्॥'** (गीता १५। १२) (अर्थात् जो तेज सूर्यमें स्थित हुआ सम्पूर्ण जगत्‌को प्रकाशित करता है·······उसको तू मेरा ही तेज जान।) और श्रीरामचन्द्रजी सहज प्रकाशरूप हैं, किसीके प्रकाशसे प्रकाशरूप नहीं हैं, क्योंकि वे भगवान् हैं।

नोट—२ *'नहिं तहँ पुनि बिज्ञान बिहाना'* इति। भाव कि सबेरा तो वहाँ ही कहा जा सकता है जहाँ रात रही हो। जहाँ रात है ही नहीं वहाँ यह नहीं कह सकते कि सबेरा हुआ। वैसे ही जहाँ अज्ञानरूपी रात्रि है ही नहीं वहाँ यह नहीं कहा जा सकता कि ज्ञान हुआ; जहाँ मोह रहा हो वहीं ज्ञानसे उसके नाश होनेपर विज्ञानरूप सबेरा होना कहा जा सकता है।[यहाँ अधिक अभेद रूपक है।—(वीरकवि)]

पुनः, यों भी कह सकते हैं कि उदय तभी कहा जा सकता है जब सूर्य अस्त हुआ हो, और जहाँ सूर्य सर्वकाल है, अस्त कभी होता ही नहीं, वहाँ तो उसका उदय होना अथवा प्रभात होना नहीं कहा जा सकता। इसी तरह प्रभु तो सदा विज्ञानरूप ही हैं वहाँ विज्ञानका उदय होना नहीं कहा जा सकता।

श्रीपंजाबीजी लिखते हैं कि 'लोग कहते हैं कि सूर्य रात्रिका शत्रु है, जब भानुने रात देखी ही नहीं तो उसका नाशक कैसे? वैसे ही श्रीरामचन्द्रजीकी आत्मामें अविद्या फुरती ही नहीं तो उसकी अभाव-क्रिया कैसे कही जाय? जो कोई कहे कि उनमें अज्ञान नहीं पर ज्ञान तो है, उसपर कहते हैं कि वे सहज प्रकाशरूप हैं अर्थात् उनका प्रकाश उपजने या विनाश होनेवाला नहीं है। उनमें ज्ञानका होना ऐसे कहते हैं जैसे सूर्यके लिये दिन—दोनों ही असम्भव। तात्पर्य यह कि जिन्होंने निशा देखी है वे दिनको

भी जानते हैं, जिस भानुमें रात कभी हुई नहीं उसमें दिन किसको कहिये। वैसे ही जिन जीवोंकी बुद्धिमें अविद्या है, सो अविद्याकी निवृत्त्यवस्थाको ज्ञान कहते हैं और जिस सच्चिदानन्द आत्मामें अज्ञान कुछ फुरा ही नहीं वहाँ ज्ञान किसको हो और किसका?

श्रीपंजाबीजीके लेखका भाव यह है कि ज्ञान वा अज्ञानका होना जीवमें स्थापित हो सकता है, राममें नहीं। जीव अज्ञानी है, इसलिये उसे ज्ञानका भास होता है। जिसमें अज्ञान है ही नहीं उसमें ज्ञानका भास कैसा? जिसने रात्रिको देखा है उसे दिनका भान होगा, जिसने रात्रि देखी ही नहीं और सदा प्रकाशहीमें रहता है वह तो यही जानेगा कि केवल यही दशा रहती है, दिनका उसे नामतक मालूम न होगा! इसी प्रकार राममें अज्ञानकी स्थापना नहीं हो सकती। अतः ज्ञानकी भी स्थापना नहीं की जा सकती। वहाँ तो एकरूप सदा ही ज्योति-ही-ज्योति है, प्रकाश-ही-प्रकाश है, विज्ञान-ही-विज्ञान है।

नोट—३ '*पुनि*' इति। पूर्व लिखा जा चुका है कि यह शब्द गहोरावासियोंमें बिना अर्थका ही बोला जाता है। तथा—'*मैं पुनि पुत्रबधू असि पाई*' में '*मैं पुनि*'=मैने, '*मैं पुनि गयउँ बंधु सँग लागा*' में '*मैं पुनि*' =मैं। '*पुनि*' का अर्थ 'और' भी ले सकते हैं। अथवा '*पुनि*' का भाव कि जैसे रातके बाद फिर दिन, अज्ञानके बाद फिर ज्ञान, वैसा यहाँ पुनर्विज्ञानका प्रसंग नहीं।

नोट—४ इन चौपाइयोंसे मिलते-जुलते श्लोक ये हैं—'**अज्ञानसंज्ञौ भवबंधमोक्षौ द्वौ नाम नान्यौ स्त ऋतज्ञभावात्। अजस्रचिन्त्यात्मनि केवले परे विचार्यमाणे तरणाविवाहनी॥**' (भा० १०। १४। २६) अर्थात् भवबन्धन और उससे मोक्ष दोनों ही अज्ञानके नाम हैं। ये सत्य और ज्ञानस्वरूप परमात्मासे भिन्न अस्तित्व नहीं रखते। जैसे सूर्यमें दिन और रातका भेद नहीं है, वैसे ही विचार करनेपर अखण्ड चित्स्वरूप केवल शुद्ध आत्मतत्त्वमें न तो बन्धन ही है और न मोक्ष ही। पुनश्च, '**यथाप्रकाशो न तु विद्यते रवौ ज्योतिः स्वभावे परमेश्वरे तथा। विशुद्धविज्ञानघने रघूत्तमेऽविद्या कथं स्यात्परतः परात्मनि॥ २१॥ नाहो न रात्रिः सवितुर्यथा भवेत् प्रकाशरूपाव्यभिचारतः क्वचित्। ज्ञानं तथाज्ञानमिदं द्वयं हरौ रामे कथं स्थास्यति शुद्धचिद्घने॥ २३॥ तस्मात्परानन्दमये रघूत्तमे विज्ञानरूपे हि न विद्यते तमः। अज्ञानसाक्षिण्यरविन्दलोचने मायाश्रयत्वान्नहि मोहकारणम्॥ २४॥**' (अ० रा० १। १) अर्थात् जिस प्रकार सूर्यमें कभी अन्धकार नहीं रहता, उसी प्रकार प्रकृत्यादिसे अतीत विशुद्ध, ज्ञानघन, स्वतः प्रकाशरूप, परमेश्वर परमात्मा राममें भी अविद्या नहीं रह सकती॥ २१॥ प्रकाशरूपताका कभी व्यभिचार न होनेसे जिस प्रकार सूर्यमें रात-दिनका भेद नहीं होता, वह सर्वदा एक समान प्रकाशमान रहता है—उसी प्रकार शुद्ध चेतनघन भगवान् राममें ज्ञान और अज्ञान दोनों कैसे रह सकते हैं?॥ २३॥ अतएव परानन्दस्वरूप विज्ञान अज्ञानसाक्षी कमलनयन भगवान् राममें अज्ञानका लेश भी नहीं; क्योंकि वे मायाके अधिष्ठान हैं; इसलिये वह उन्हें मोहित नहीं कर सकती॥ २४॥

**हरष बिषाद ज्ञान अज्ञाना। जीव धर्म अहमिति अभिमाना॥ ७॥**
**राम ब्रह्म ब्यापक जग जाना। परमानंद परेस पुराना॥ ८॥**

शब्दार्थ—**अहमिति** (**अहं इति**)=अहं ऐसा। =अहंकार, यथा—'*अहमिति मनहु जीति जग ठाढ़ा।*' (२८६। ६) '*जिता काम अहमिति मन माहीं।*' (१२७। ५) '*चले हृदय अहमिति अधिकाई।*' (१२९। ७) '*हृदय रूप अहमिति अधिकाई॥*' (१३४। १) **परमानन्द**=परम आनन्दस्वरूप। **परेस** (पर ईश) सबसे परे जो ब्रह्मा आदि हैं उनके भी स्वामी। सर्वश्रेष्ठ स्वामी। यथा—'*तुम्ह ब्रह्मादि जनक जग स्वामी।*' पुराना=पुराणपुरुष।

अर्थ—हर्ष, शोक, ज्ञान, अज्ञान, अहम् ऐसा जो अभिमान अथवा अहंकार और अभिमान (ये सब) जीवके धर्म हैं॥ ७॥ श्रीरामचन्द्रजी (तो) ब्रह्म, व्यापक, परमानन्दस्वरूप, परात्पर स्वामी और पुराण-पुरुष हैं, यह सारा जगत् जानता है॥ ८॥

टिप्पणी—१ '*हरष बिषाद*......' इति। (क) जीव कर्मवश दुःख-सुखका भागी होता है, उसमें ज्ञान और अज्ञान दोनों रहते हैं, परंतु ईश्वरमें ज्ञान एकरस रहता है। यथा—'*ज्ञान अखंड एक सीताबर॥ जौं*

*सब के रह ज्ञान एक रस। ईश्वर जीवहि भेद कहहु कस॥*' (७। ७८) (ख) *'अहमिति'* अर्थात् मैं। इसीको 'अहंकार' कहते हैं। अहंकार और अभिमानमें भेद यह है कि अहंकार अपनेका होता है और अभिमान वस्तुका होता है कि यह हमारी है।[बैजनाथजीका मत है कि देहव्यवहारको अपना मानना *'अहमिति'* है और मैं ब्राह्मण, मैं विद्वान्, मैं धनी, मैं राजा इत्यादि *'अभिमान'* है। हमारी समझमें *'अहमिति' 'अहं इति'* कहकर अभिमानका स्वरूप क्या है यह बताया है। वि० त्रि० जी *'अहमिति'* से अस्मिता और *'अभिमान'* से गर्वका अर्थ लेते हैं।] (ग)*'जीव धर्म'* इति। ये सब जीवके धर्म हैं। यथा—*'माया बस्य जीव अभिमानी। ईस बस्य माया गुन खानी॥'* (७। ७८। ६) भाव कि तुम श्रीरामजीमें *'बिषाद'* समझती हो यदि हम उनमें *'हर्ष'* कहें, तुम उनमें अज्ञान कहती हो, यदि हम उनमें ज्ञान कहें, तो यह भी नहीं बनता; क्योंकि हर्ष-विषाद ये सभी जीवके धर्म हैं।

नोट—१ *'जीव धर्म'*""।' अर्थात् ये सब विकार जीवोंमें होते हैं, ईश्वरमें नहीं। उदाहरणार्थ श्रीलोमशमुनि, श्रीसनकादिकजी और गरुड़जीको लीजिये। चिरजीवी मुनि श्रीलोमशजी निर्गुणब्रह्मके वेत्ता परम ज्ञानी जो *'सो तैं ताहि तोहि नहिं भेदा। बारि बीचि इव गावहिं बेदा॥'* (७। १११) ऐसा कहते थे और *'ब्रह्म ज्ञान रत मुनि बिज्ञानी'* थे, उनको भी क्रोध आ ही गया। श्रीसनकादिकजीको भी क्रोध आ गया कि जो *'ब्रह्मानंद सदा लयलीना।""समदरसी मुनि बिगत बिभेदा॥'* (७ । ३२) इन्होंने जय-विजयको शाप दे ही दिया। *'गरुड़ महाग्यानी गुनरासी। हरिसेवक अति निकट निवासी॥'* (७। ५५) सो इनको भी मोह हो ही गया। ये सब विज्ञानी हैं, फिर भी जीव ही तो ठहरे। श्रीरामजी इन द्वन्द्वोंसे परे हैं, जीव नहीं हैं, वे तो *'ब्रह्म व्यापक*""' हैं।

टिप्पणी—२ *'राम ब्रह्म व्यापक*""' इति। (क) ब्रह्म अर्थात् बृहत् हैं, बड़ेसे भी बहुत बड़े हैं। व्यापक हैं अर्थात् सूक्ष्म हैं। यथा—'**अणोरणीयान्महतो महीयान्**।'इति। (श्रुति) (श्वे० ३। २०) यह जगत् जानता है, यथा—*'सब को प्रभु सब में बसै जानै सब कोइ।'* (विनय०) परमानन्दस्वरूप हैं अर्थात् उनमें दुःख कहीं आ ही नहीं सकता। *पुराना,* यथा—*'संभु बिरंचि बिष्नु भगवाना। उपजहिं जासु अंस ते नाना॥'* (१४४। ६)

## दो०—पुरुष प्रसिद्ध प्रकाशनिधि प्रगट परावर नाथ।
## रघुकुलमनि मम स्वामि सोइ कहि सिव नायउ माथ॥ ११६॥

शब्दार्थ—*'पुरुष'*-महर्षि पतञ्जलिके सिद्धान्तानुसार '**क्लेशकर्मविपाकाशयैरपरामृष्टः पुरुषविशेष ईश्वरः**।' (समाधिपाद) अर्थात् पञ्चक्लेश और कर्मविपाकाशय (कर्मफलभोग) आदिसे अपरामृष्ट (अर्थात् जिनको क्लेशादि स्पर्श भी नहीं कर सकते वह पुरुषविशेष ईश्वर है। यजुर्वेदमें पुरुषकी व्याख्या इस प्रकार है—'**एतावानस्य महिमाऽतो ज्यायांश्च पूरुषः**।' (३१। ३) श्वेताश्वतरमें '**स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम्**।' (३। ३। १९) अर्थात् जो सबको जाननेवाले हैं, जिनको जाननेवाला कोई नहीं है, उनको महापुरुष सबके आदि पुरातन और महान् पुरुष कहते हैं। *'प्रसिद्ध'*=विख्यात अर्थात् वेदों, शास्त्रों आदिमें प्रसिद्ध। दूसरा अर्थ *'सिद्ध'* शब्दमें 'प्र' उपसर्ग लगाकर *'प्रसिद्ध'* शब्द बना हुआ लेकर किया जाता है। इस प्रकार *'प्रसिद्ध'*=जिसको उभय विभूतिकी सिद्धि बिना किसी उपायके स्वाभाविक ही प्राप्त हो=उभयविभूतिविनायक। इस तरह यह श्रीरामजीका एक विशेषण है; यथा—'**पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि**।' (यजु० ३१। ३), '**भोगस्थानं पराऽयोध्या लीलास्थानं त्विदं भुवि। भोगलीलापती रामो निरङ्कुशविभूतिकः**।' (सदाशिवसंहिता ५) '**प्रकाशनिधि**=प्रकाशके अधिष्ठान खजाना वा भण्डार। **प्रगट** (प्रकट)=प्रत्यक्ष हैं। *'परावर'*—'**परे अवराः (न्यूना) यत्र**' इस व्युत्पत्तिके अनुसार 'परावर' का अर्थ है 'जिसमें बड़े-से-बड़े जाकर छोटे हो जाते हैं।' अर्थात् सर्वश्रेष्ठ। यह शब्द परब्रह्म परमात्माके लिये उपनिषदोंमें भी आया है; यथा—'**भिद्यते हृदयग्रन्थिश्छिद्यन्ते सर्वसंशयाः। क्षीयन्ते चास्य कर्माणि तस्मिन्दृष्टे परावरे**॥ मुण्डक० २ खण्ड श्रुति ८।' अर्थात् उस 'परावर' (परात्पर पुरुषोत्तम) से इस जीवके हृदयकी अविद्यारूप ग्रन्थि

खुल जाती है और उसके सब संशय कट जाते हैं तथा उसके शुभाशुभ कर्म नष्ट हो जाते हैं।* **नाथ**=सबके स्वामी; सर्वेश्वर। '**पतिं विश्वस्य आत्मेश्वरम्।**'

अर्थ—जो पुराणपुरुष हैं (जिनको 'पुरुषसूक्त' में 'पुरुष' नामसे कहा गया है), (वेद-शास्त्रादिमें) प्रसिद्ध हैं एवं उभयविभूतिनायक हैं,† सम्पूर्ण प्रकाशके अधिष्ठान हैं, प्रकट हैं‡, परावर हैं और सबके नाथ हैं, वे ही रघुकुलशिरोमणि श्रीरामजी मेरे स्वामी हैं—ऐसा कहकर श्रीशिवजीने मस्तक नवाया (प्रणाम किया)॥ ११६॥

नोट—१ '*प्रसिद्ध*' का अर्थ यदि विख्यात लें तो भाव होगा कि सब कालमें, सब देशमें तथा वेद-शास्त्रपुराणादिमें प्रसिद्ध हैं; यथा—'**शास्त्रं न तत्स्याद् नहि यत्र रामः काव्यं न तत्स्याद् नहि यत्र रामः। न संहिता यत्र न रामदेवो न सा स्मृतिर्यत्र न रामचन्द्रः॥**' (पद्मपुराणे। वै०) '**ब्रह्माविष्णुमहेशाद्या यस्यांशा लोकसाधकाः। तमादिदेवं श्रीरामं विशुद्धं परमं भजे॥**' (स्कन्दपु०। वै०)

नोट—२ '*प्रकाशनिधि*' इति। भाव यह कि सम्पूर्ण प्रकाशयुक्त पदार्थोंके जो प्रकाशक हैं, सम्पूर्ण ज्योतिमानोंका सम्पूर्ण प्रकाश जिनके प्रकाशके एक क्षुद्रतम अंशद्वारा सम्पादित होता है, सारा जगत् जिनके प्रकाशसे प्रकाशित है; यथा—'**तच्छुभ्रं ज्योतिषां ज्योतिः**', '**तमेव भान्तमनुभाति सर्वं तस्य भासा सर्वमिदं विभाति॥**' (मुण्ड० २, खण्ड २। ९, १०) '*सब कर परम प्रकाशक जोई।*'

बैजनाथजीके मतानुसार, '*प्रकाशनिधि*'= 'जिसके रूपमें सम्पूर्ण प्रकाश परिपूर्ण हैं'। यथा—'**तत्त्वस्वरूपं पुरुषं पुराणं स्वतेजसा पूरितविश्वमेकम्। राजाधिराजं रविमण्डलस्थं विश्वेश्वरं राममहं भजामि॥**' (सनत्कुमारसंहिता) '**एकं चापि परं समस्तजगतां ज्योतिर्मयं कारणं प्रागन्ते च विकारशून्यमगुणं निर्नामरूपं च यत्। तच्छ्रीरामपदारविन्दनखरप्रान्तस्य तेजोमलं प्रज्ञा वेदविदो वदन्ति परमं तत्त्वं परं नास्त्यतः॥**' (भा०) (वै०) '*प्रकाशनिधि*' का विशेष विवरण '**ज्योतिश्चरणाविधानात्**' (ब्रह्मसूत्र १। १। २५) पर श्रीभाष्य, श्रीआनन्दभाष्य और श्रीजानकीभाष्य देखना चाहिये।

नोट—३ '*राम सो अवधनृपतिसुत सोई।*……' पार्वतीजीके इस प्रश्नका उत्तर चल रहा है। '*राम ब्रह्म ब्यापक*……' से अन्तर्यामीस्वरूप कहकर अब सर्वकारणरूप पर-स्वरूप कहते हैं। (रा० प्र०)

टिप्पणी—१ (क) दोहेका भावार्थ यह है कि जो 'पुरुष, प्रसिद्ध, प्रकाशनिधि और परावर-नाथ' इन बिशेषणोंसे युक्त हैं वे 'श्रीराम' प्रकट हैं। वे रघुकुलमणि हैं, अर्थात् उन्होंने रघुकुलमें जन्म लिया है। (ख) अन्तमें '*रघुकुलमनि*' कहकर (पूर्वकथित) समस्त ऐश्वर्यको माधुर्यमें घटित किया है। (ग) ☞ यही प्रसङ्ग उत्तरकाण्ड में विस्तारसे कहा गया है। यथा—'*सोइ सच्चिदानंदघन रामा। अज बिज्ञानरूप बलधामा'॥ ३॥ ब्यापक ब्याप्य अखंड अनंता। अखिल अमोघ सक्ति भगवंता॥ ४॥ अगुन अदभ्र गिरा गोतीता। सबदरसी अनवद्य अजीता॥५॥ निर्मम निराकार निर्मोहा। नित्य निरंजन सुख*

---

* प्रायः अन्य टीकाकारोंने 'परावरनाथ' को एक शब्द मानकर 'परावर' के अर्थ किये हैं—(क) पर=त्रिपादविभूति जो परधाममें है। अवर=एकपादविभूति अखिल ब्रह्माण्ड-रचना (वै०) (ख) पर=जीव। अवर=माया। (ग) परावर='ब्रह्मादि पूर्वज, मनु आदि' (मानसकोश)। (घ) पर=निर्गुण। अवर=सगुण। (रा० प्र०) (ङ) पर=कारणावस्थापन्न जीव तथा प्रकृति=सूक्ष्म चिदचित्। अवर=कार्यावस्थापन्न जीव और प्रकृति=स्थूल चिदचित्। (वे० भू०) (च) पर=अवतारी। अवर=अवतार। नाथ=सर्वेश्वर। कर्मधारयसमाससे। (वे०भू०)

इस तरह 'परावरनाथ'=(क) त्रिपादविभूति एवं एकपादविभूति दोनों विभूतियोंके स्वामी। यथा—(पादोऽस्य विश्वाभूतानि त्रिपादस्यामृतं दिवि), (पुरुषसूक्त यजु० ३१।३)। (ख) जीव और प्रकृतिके स्वामी। जीव, माया और जगत्के स्वामी,—(मानसाङ्क) (ग) ब्रह्मादि पूर्वजोंके स्वामी। (घ) निर्गुण और सगुण दोनोंके स्वामी। (ङ) सृष्टिके पूर्वोत्तर-कालीन जीव और प्रकृतिके स्वामी। (च) अवतारी, अवतार और सर्वेश्वर।

† अर्थान्तर—'जो पुरुष प्रसिद्ध हैं।' (वै०)। ‡ प्रथम संस्करणमें 'प्रगट' का अन्वय 'रघुकुलमनि' के साथ करके अर्थ किया गया था कि 'जो रघुकुलमें मणिरूप प्रकट हुए हैं'।

*संदोहा॥ ६॥ प्रकृति-पार प्रभु सब उर बासी। ब्रह्म निरीह बिरज अबिनासी॥ ७॥ इहाँ मोह कर कारन नाहीं। रबि सनमुख तम कबहुँ कि जाहीं॥ ८॥ भगत हेतु भगवान प्रभु राम धरेउ तनु भूप।'*''''' ॥ ७२॥

टिप्पणी—२ *'रघुकुलमनि मम स्वामि सोइ'* कहकर मस्तक नवानेका भाव यह है कि श्रीशिवजीने प्रथम मानसिक प्रणाम किया था। *'बंदौ बालरूप सोइ रामू।''''करि प्रनाम रामहि त्रिपुरारी॥'* (१। ११२) वाला प्रणाम मानसिक था और अब वचन कहकर प्रणाम करते हैं। इसीसे *'कहि'* शब्द दिया गया।

टिप्पणी—३ *'राम ब्रह्म ब्यापक''''' । पुरुष प्रसिद्ध''''' नाम'* इन विशेषणोंका भाव यह भी है कि जिन्हें वेदान्ती व्यापक ब्रह्म कहते हैं। सांख्य पुराणपुरुष कहता है, [यहाँ 'सांख्य' से सेश्वर सांख्य, जिसे पातञ्जलिदर्शन कहते हैं, समझना चाहिये न कि कपिलदेवजीका सांख्य, क्योंकि (कपिलदेवजीके) सांख्य-सिद्धान्तमें 'पुरुष' शब्दसे अनेक जीवोंका ही ग्रहण किया गया है। उसमें ईश्वरकी सत्ता नहीं मानी गयी है।] जिसे योगी प्रकाशनिधि और पौराणिक परावरनाथ कहते हैं, सारांश यह कि जो कोई भी जो कुछ भी नाम कहता है, हैं वह सब श्रीरामजी ही। यथा हनुमन्नाटक—**'यं शैवाः समुपासते शिव इति ब्रह्मेति वेदान्तिनो बौद्धा बुद्ध इति प्रमाणपटवः कर्तेति नैयायिकाः॥ अर्हन्नित्यथ जैनशासनरताः कर्मेति मीमांसकाः सोऽयं वो विदधातु वाञ्छितफलं त्रैलोक्यनाथो** हरिः॥' अर्थात् शैव 'शिव' मानकर, वेदान्ती ब्रह्म मानकर, बौद्ध बुद्ध मानकर, प्रमाणमें प्रवीण नैयायिक लोग कर्ता शब्दसे, जैनी अर्हन् शब्दसे और मीमांसक कर्म शब्दसे जिसकी उपासना करते हैं, वे ही ये त्रिलोकीनाथ हरि श्रीरामचन्द्रजी आपलोगोंके वाञ्छित फलोंकी पूर्ति करें।

पंजाबीजी—*'राम ब्रह्म ब्यापक जग जाना।'* से लेकर यहाँतक बारह विशेषणोंमें निर्गुणका स्वरूप कहा और *'रघुकुलमनि'* यह एक विशेषण सगुणरूपका कहकर अपनी अभेद-उपासना श्रीरामचन्द्रजीके स्वरूपमें लखाकर शंकरजीने ग्रन्थके आरम्भके समय निर्विघ्न-परिसमाप्तिहेतु इष्टदेवको प्रणाम किया।

वै० भू०—*'मम स्वामि सोइ'* का भाव कि *'रघुकुलमनि'* महाराज श्रीदशरथजीको भी कहा गया है; यथा—*'अवधपुरी रघुकुलमनि राऊ। बेद बिदित तेहि दसरथ नाऊ॥'* (१। १८८। ७) अतः ब्रह्म, व्यापक, पुरुष आदि अनेक विशेषण देकर तब *'रघुकुलमनि मम स्वामि सोइ'* कहा। अर्थात् जो इन विशेषणोंसे युक्त हैं वे 'रघुकुलमणि' मेरे स्वामी हैं, अन्य 'रघुकुलमणि' नहीं।

नोट—४ *'हर्ष बिषाद ग्यान अग्याना।'* से लेकर यहाँतकका तात्पर्य यह है कि जिस ब्रह्मकी वार्ता इस समय मैं कर रहा हूँ, उसमें हर्षविषादादि जीवधर्मोंका आरोप नहीं हो सकता। वह तो जीव और माया तथा मेरे समान ईश-कोटिवाले व्यक्तियोंका भी स्वामी है और वही मेरा इष्टदेव श्रीरामरूपमें प्रत्यक्ष है।

वि० त्रि०—१ श्रीशिवजी अब उन छहों आप्तों (रात्रिकों) की ओरसे उत्तर दे रहे हैं, जिनके सिद्धान्तका उमाने अनादर किया था। *'राम सच्चिदानंद दिनेसा।'* (११६। ५) से दोहा ११६ तक परमार्थवादीकी ओरसे कहा। २—हर्ष, शोक, ज्ञान, अज्ञान, अस्मिता और गर्व—ये सातों जीवधर्म हैं। बन्धसे लेकर मोक्षतक द्वैत जीवकल्पित है, इससे उन्हें जीवधर्म कहा। ब्रह्मके सात धर्म हैं—व्यापक, परमानन्द, परेश, पुराना, पुरुषप्रसिद्ध (यथा—*'जगदातमा प्रानपति रामा),* प्रकाशनिधि (यथा—*'जिमि घट कोटि एक रबि छाहीं)* और प्रगट परावरनाथ (यथा—*'राम रजाइ मेटि जगमाहीं। देखा सुना कतहुँ कोउ नाहीं॥ उमा दारु जोषित की नाईं। सबहिं नचावत राम गोसाईं'॥* )

**निज भ्रम नहिं समुझहिं अग्यानी। प्रभु पर मोह धरहिं जड़ प्रानी॥ १॥**
**जथा गगन-घनपटल निहारी। झाँपेउ भानु कहहिं कुबिचारी॥ २॥**

शब्दार्थ—जड़=मूर्ख।—विशेष टिप्पणीमें देखो। **प्रानी** (प्राणी)=जीव, मनुष्य। धरना-आरोपण करना। अपनेमें स्थित गुणोंको दूसरेमें मानना। **पटल**=परदा। समूह, (पं० रा० कु०, वै०) **झाँपना**=ढक लेना, छिपा देना।

अर्थ—अज्ञानी मूर्ख मनुष्य अपना भ्रम तो समझता नहीं, (और उलटे) मोहका आरोपण करता है

प्रभु श्रीरामजीमें॥ १॥ जैसे आकाशमें मेघपटल देखकर कुविचारी मनुष्य कहता है कि मेघोंने सूर्यको ढक लिया॥ २॥

नोट—१ इन चौपाइयोंकी जोड़की चौपाइयाँ भुशुण्डि-गरुड़-संवादमें ये हैं—'*जब जेहि दिसि भ्रम होइ खगेसा। सो कह पच्छिम उयउ दिनेसा॥ नौकारूढ़ चलत जग देखा। अचल मोह बस आपुहि लेखा॥ बालक भ्रमहिं न भ्रमहिं गृहादी। कहहिं परस्पर मिथ्याबादी॥ हरि बिषइक अस मोह बिहंगा। सपनेहुँ नहिं अज्ञान प्रसंगा॥*' (७। ७३)

टिप्पणी—१ '*निज भ्रम*······' इति। (क) '*नहिं समुझहिं*' का भाव कि यदि अपना भ्रम समझ पड़ता तो प्रभुपर मोहका आरोप कदापि न करता। अज्ञानी कहनेका भाव कि भ्रम अज्ञानसे होता है और अज्ञान जीवका धर्म है। यथा—'*हरष बिषाद ग्यान अग्याना। जीव धर्म*······॥' (१। ११६) [(ख) '*प्रभु पर मोह धरहिं*' अर्थात् प्रभुको अज्ञानी समझते हैं। यहाँ सतीजीके '*खोजै सो कि अग्य इव नारी*' इन विचारोंकी ओर संकेत है। पुनः, '*नारि बिरह दुख लहेउ अपारा। भयउ रोषु रन रावन मारा॥*' (१। ४६) (श्रीभरद्वाजवाक्य) अर्थात् प्रभुका नरनाट्य देखकर उन्हें सचमुच ही सुखी एवं दुःखी, कामी एवं क्रोधी इत्यादि मान लेते हैं और उनको प्राकृत राजा समझने लगते हैं। विरही, कामी, क्रोधी आदि समझना ही प्रभुमें मोहका आरोप करना है। वस्तुतः ब्रह्म अवतारकालमें भी कभी मोहावृत नहीं होता परं च नरनाट्य करता हुआ वह लीलारसका भोग करता है। यथा—'**परमपुरुषोऽपि लीलार्थं दशरथवसुदेवादिपितृलोकादिकमात्मनः सृष्ट्वा तैर्मनुष्यधर्मलीलारसं भुङ्क्ते।**' (श्रीभाष्य ४। ४। १४)] (ग) '*जड़ प्रानी*' कहनेका भाव कि प्रभुमें मोहका आरोप करना पड़ता है। यथा—'*जेहि बिधि मोह भयउ प्रभु मोही।*······*राम कृपा आपनि जड़ताई। कहउँ खगेस सुनहु मन लाई॥*' (७। ७४-७५) श्रीरामजी सूर्य हैं, मोह रात्रि है, सूर्यके यहाँ रात्रि कभी भी नहीं है—'*राम सच्चिदानंद दिनेसा। नहिं तहँ मोह निसा लव लेसा॥*' जहाँ मोहरात्रिका लेशमात्र नहीं वहाँ मोहका आरोप करते हैं, प्रभुको अज्ञानी समझते हैं, अपना भ्रम नहीं समझ पड़ता, अतः जड़ कहा। [जो पुरुष मोहवशात् इष्ट-अनिष्ट, सुख-दुःख आदि नहीं जानता उसे अज्ञ वा जड़ कहते हैं। यथा—'**इष्टं वानिष्टं वा सुखदुःखे वा न चेह यो मोहाद् विन्दति परवशगः स भवेदिह जडसंज्ञकः पुरुषः॥**'] (घ) अपना भ्रम नहीं समझते, उलटे प्रभुपर मोह धरते हैं, इसीपर आगे दृष्टान्त देते हैं। प्रभुपर मोह धरना अधर्म है; यथा—'*पाछिल मोह समुझि पछिताना। ब्रह्म अनादि मनुज करि माना॥*' (७। ९३)

नोट—२ '*जथा गगन घन*······' इति। (क) पूर्व एक साधारण बात कहकर कि अज्ञानी मूर्ख मनुष्य अपना भ्रम तो समझता नहीं उलटे प्रभुपर मोहका आरोपण करता है, अब उसकी विशेषसे समता दिखाते हैं। अतः यहाँ 'उदाहरण' अलंकार है। यहाँ सच्चिदानन्द भगवान् रामजी निर्मल आकाश हैं, सूर्यका बादलोंसे ढाँका जाना कहना श्रीरामजीको मोहावृत कहना है और 'अज्ञानी जड़ प्राणी' यहाँके 'कुविचारी' हैं। (ख) '*झाँपेउ भानु*' इति। झाँपना कहनेसे जान पड़ता है कि वस्तु जो छुपायी गयी है वह छोटी है और ढाँकनेवाली वस्तु बड़ी है। मेघ नीचे हैं, सूर्य ऊपर। वे सूर्यको तो ढक नहीं सकते। हाँ! वे पृथ्वीके सन्निकट होनेसे अपने आकार-प्रकारानुसार पृथ्वीके किञ्चित् अंशको एवं उस अंशपर उपस्थित चराचरवर्गको ही आच्छादित करते हैं। इस तरह मेघोंने देखनेवालोंको ढक लिया, इसीसे उसे सूर्य नहीं दिखायी पड़ते। परंतु वह अपनी गलती नहीं समझता। यदि बद्रीनारायण आदिक ऊँचे पर्वतोंकी शिखरपर वह मनुष्य चढ़ जाय तो उसको अपनी गलती सूझ पड़े कि मेघ तो बहुत नीचे थोड़ेसे घेरेमें हैं और सूर्य तो इनसे बहुत दूर ऊँचेपर है। वैसे ही श्रीरामचन्द्रजी तो 'मोहपार' हैं और इनको मोहने घेर लिया है जिससे वे उससे परे जो रामरूप है उसे तो देख ही नहीं सकते और हठवश कहते हैं कि श्रीरामजीको मोह है। अपनेमें ज्ञान हो तो समझे कि यह तो नरनाट्य है। श्रीपंजाबीजी यों लिखते हैं कि 'परदा तो नेत्रोंपर पड़ा है और वे उसे सूर्यके आगे ठहराते हैं।'

टिप्पणी—२ (क) प्रथम श्रीरामजीको सूर्य कह आये—'*राम सच्चिदानंद दिनेसा*'। इसीसे यहाँ सूर्यका

ही दृष्टान्त प्रथम दिया है। (ख) *'कहहिं कुबिचारी'* का भाव कि जो सुविचारी, विचारवान् समझदार ज्ञानी हैं वे ऐसा नहीं कहते, वे तो यह कहेंगे कि हमारी दृष्टिके सामने मेघका आवरण आ गया है, जिससे हम सूर्यकी प्रभासे वञ्चित हो रहे हैं। (ग) *'कुबिचारी'* का भाव कि ये विचार नहीं करते कि सूर्य लक्षयोजन (पर) है, बादलोंसे कैसे ढाँका जा सकता है? जब बादल सूर्यके ऊपर होते और सूर्यसे बड़े होते तब कहीं ढक सकते। अपनी दृष्टि और सूर्यके बीचमें बादल हैं,. इससे अपनी ही दृष्टि ढकी हुई है जिससे सूर्य नहीं देख पड़ते। चौपाईका तात्पर्य यह है कि मोह अपनेमें है, प्रभुमें नहीं। [जैसे बादलोंसे सूर्य नहीं ढके हैं वैसे ही श्रीरामजी श्रीजानकी-विरहमें न तो विलाप ही कर रहे हैं, न उन्हें खोज रहे हैं और न व्याकुल ही हैं, वे तो नरनाट्य कर रहे हैं, श्रीजानकीवियोग तो उनको कभी होता ही नहीं, दोनोंका नित्यसंयोग है। जैसे सतीतनमें परीक्षा करके पार्वतीजी देख चुकी हैं। यथा—*'अवलोके रघुपति बहुतेरे। सीता सहित न बेष घनेरे॥ सोइ रघुबर सोइ लछिमनु सीता। देखि सती अति भई सभीता॥'* (१। ५६) *'सती दीख कौतुक मग जाता। आगे रामु सहित श्री भ्राता॥'*......(१। ५४) याज्ञवल्क्यजी भी कहते हैं *'कबहूँ जोग बियोग न जाकें। देखा प्रगट बिरह दुखु ताकें।'* (१। ४९) उनमें मोह नहीं, मोह और भ्रम है देखनेवालेको। (वै०, नंगे परमहंसजी)]

प० प० प्र०—*'निज भ्रम नहिं समुझहिं अज्ञानी।'*......' इत्यादि तीन अर्धालियोंमें अज्ञ, अकोविद, अंध, अभागीकी चर्चा सोदाहरण चलायी है। प्रभुपर मोह आरोपित करनेका सर्वसामान्यहेतु यहाँ सिद्धान्तरूपसे कहा है। आगे दो चौपाइयोंमें दृष्टान्त है। रज्जु न देखनेसे किसी-किसीको भ्रम पैदा होता है। भ्रमका मूल कारण अज्ञान है। न जाननेसे बाह्य-सादृश्यसे विपरीत ज्ञान पैदा होता है। इसको भ्रम कहते हैं। रज्जुके स्थानमें रज्जुज्ञान न होनेसे सर्पका भ्रम होता है, अथवा सर्पको न जाननेसे पुष्पहारका भ्रम होता है; यही उस रज्जुपर या सर्पपर अपना अज्ञान और भ्रम आरोपित करना है। रज्जु है नहीं यह अज्ञान आरोपित करना है, राम ब्रह्म नहीं हैं यह अज्ञानका धरना है और राम नृपसुत हैं यह भ्रमका धरना है। तीनों अवस्थाओं तथा तीनों कालोंमें रज्जु रज्जु ही है, वह कभी सर्प नहीं बनती, वैसे ही राम सदा सर्वकाल सर्व अवस्थाओंमें सच्चिदानन्दघन ब्रह्म ही हैं।

२ **अज्ञानी**=जड़-मूढ़। 'जड़' की व्याख्या *'ते जड़ जीव निजात्मक घाती। जिन्हहिं न रघुपति कथा सोहाती॥'* (७। ५३। ७) *'जे असि भगति जानि परिहरहीं। केवल ज्ञान हेतु श्रम करहीं॥ ते जड़ कामधेनु गृह त्यागी। खोजत आकु फिरहिं पय लागी॥'* इन उद्धरणोंमें है। अर्थात् **जड़**=हरिपदविमुख, हरिभक्तिविमुख, केवल ज्ञानके लिये यत्न करनेवाले। अज्ञानी अपना भ्रम प्रभुपर आरोपित करते हैं। हरिपदविमुख, हरिभक्तिविमुख अपना मोह प्रभुपर धरते हैं। अब वाच्यार्थमें दृष्टान्त देकर गूढ़ार्थमें हरिमायावश अभागीको हालत कहते हैं।—

**'*जथा गगन घनपटल*......' इति। 'घनच्छन्नदृष्टिर्घनच्छन्नमर्कं यथा निष्प्रभं मन्यते चातिमूढः। तथा बद्धवद्भाति यो मूढदृष्टः स नित्योपलब्धिस्वरूपोऽहमात्मा॥'** (हस्तामलकस्तोत्र १२) नेत्रोंके ऊपर मेघपटल सामने आनेसे देखनेवाला सूर्यको नहीं देख सकता, वह मेघपटलको ही देखता है। यह आकाशस्थ मेघपटल निसर्गसे स्वयं आता है या पवनके प्रभावसे इकट्ठा होता है, इसमें देखनेवाला कारण नहीं है अथवा नेत्रेन्द्रिय भी सदोष नहीं है, पर सूर्यको न देख सकनेसे उसकी बुद्धिमें भ्रम पैदा होता है, आकाशमें मेघपटल न आता तो वह ऐसा न कहता। यह दृष्टान्त हरिमायामोहित सती, पार्वती और गरुड-समान व्यक्तियोंके लिये है। मोहाम्भोधरप्रकृतिके प्रभावसे ही आता है और बुद्धिमें जो भ्रम होता है वह हरिमायाकी महिमासे ही (शृङ्खलाके लिये ११७। ३-४ में देखिये)।

वि० त्रि०—*'निज भ्रम*......' इति। अपने भ्रमको न समझनेवाले ही अज्ञानी हैं। जो अपने भ्रमको समझता है वह ज्ञानी है। दर्पणके प्रतिबिम्बका ज्ञान जानकारके लिये प्रभा और अनजानके लिये भ्रमात्मक है। मदान्धकारमें रज्जुका सर्प दिखायी पड़ना अज्ञान नहीं है, रज्जुको सर्प समझना अज्ञान है। वह तो

सभीको सर्परूपमें ही दिखायी पड़ेगी। परंतु जानकारको वहाँ भ्रमप्रयुक्त क्रियाका अभाव है। अविवेकी प्राणी अपने भ्रमको न समझेंगे, वे रज्जुको ही दोष देंगे कि वह सर्परूपमें क्यों परिणत हो गयी। '*जथा गगन*......'—इससे आवरणशक्ति कहा।

**चितव जो लोचन अंगुलि लाएँ। प्रगट जुगल ससि तेहि कें भाएँ॥ ३॥**
**उमा राम बिषइक अस मोहा। नभ तम धूम धूरि जिमि सोहा॥ ४॥**

शब्दार्थ—**लाएँ**=लगाकर, लगाये हुए। **भाएँ**=समझमें; यथा '*नहिं भलि बात हमारे भाएँ॥*' (१। ६२) **बिषइक**=विषयका=सम्बन्धका; सम्बन्धी।

अर्थ—जो कोई मनुष्य नेत्रमें अँगुली लगाकर चन्द्रमाको देखे तो उसकी समझमें दो चन्द्रमा प्रकट हैं॥ ३॥ उमा! श्रीरामचन्द्रजीके विषयका मोह ऐसा है* जैसा आकाशमें अन्धकार, धूँआ और धूलका सोहना॥ ४॥

नोट—१ '*लोचन अंगुलि लाएँ।*......' इति। (क) आँखके निचले भागमें एक उँगलीसे जरा-सा दबाकर और पुतलीको जरा ऊपर चढ़ाकर देखनेसे एक वस्तु दो रूपोंमें दिखायी देती है, यह प्रत्यक्ष अनुभव जो चाहे करके देख ले। (ख) भाव यह है कि दोष-कसूर तो स्वयं करें और चन्द्रमा दो दिखायी दें तो कहते हैं कि दो चन्द्रमा उदय हुए हैं। इसमें चन्द्रमाका क्या दोष? (ग) पूर्व एक साधारण बात कही कि मूर्ख अपनेमें तो दोष देखते नहीं, उलटे प्रभुमें मोहकी कल्पना कर लेते हैं, इसी उपमेय वाक्यकी समता विशेष बातसे यहाँ भी दिखा रहे हैं। अतएव यहाँ 'उदाहरण' अलंकार है।

टिप्पणी—१ पिछले चरणोंमें सूर्यका दृष्टान्त देकर अब चन्द्रमाका दृष्टान्त देते हैं। इस तरह सूर्य और चन्द्रमा दोनोंका दृष्टान्त देकर जनाया कि श्रीरामजी सदा सर्वकालमें निरन्तर रहते हैं; सूर्यसे दिनका ग्रहण हुआ और चन्द्रसे रात्रिका। पुनः भाव कि जैसे मेघसमूह (के आवरण) से सूर्य नहीं देख पड़ते वैसे ही भारी मोहसे श्रीरामजी ब्रह्म नहीं जान पड़ते किंतु मनुष्य जान पड़ते हैं। जैसे उँगली लगानेसे दो चन्द्रमा देख पड़ते हैं, वैसे ही सामान्य मोहसे श्रीरामजी देख तो पड़ते हैं, पर चन्द्रमाकी तरह दो देख पड़ते हैं—ईश्वर और मनुष्य। यथा—'*प्रभु सोइ राम कि अपर कोउ जाहि जपत त्रिपुरारि॥*' (१। ४३) (भरद्वाज) एवं '*राम सो अवधनृपति सुत सोई। की अज अगुन अलखगति कोई॥*' (१। १०८) इति (श्रीपार्वतीवाक्य)

नोट—२ भगवान् शंकराचार्यजीने भी प्रथम ब्रह्मसूत्रके भाष्यमें '**एकश्चन्द्रः स द्वितीयवत्**' लिखा है।

नोट—३ यहाँ दो दृष्टान्त देनेका भाव यह भी हो सकता है कि किसी वस्तुका यथार्थ ज्ञान होनेके लिये करण अर्थात् मन और इन्द्रिय आदिका शुद्ध होना आवश्यक है। करणके निर्दोष होनेपर भी यदि कोई बाह्य प्रतिबन्ध आ जावे तो भी यथार्थ ज्ञान नहीं हो सकता। प्रथम दृष्टान्त ('*जथा गगन-घनपटल निहारी। झाँपेउ भानु*......') से बाह्य प्रतिबन्ध जनाया और दूसरे दृष्टान्त ('*चितव जो लोचन अंगुलि लाएँ*') से करणका दोष दिखाया। अब दार्ष्टान्तमें भगवान् श्रीरामजी भानु हैं, उनका नरवेष धारणकर नरनाट्य करना घनपटल है, यह भगवान्‌का ज्ञान न होनेके लिये बाह्य प्रतिबन्ध है। पुनः अविद्याके कारण अपना मन और इन्द्रियाँ दूषित हैं, वैसे ही अँगुली लगानेसे अपने नेत्र दूषित हुए, यह श्रीरामरूपी चन्द्रका यथार्थ ज्ञान न होनेके लिये करणदोष है।

दो दृष्टान्त देकर जनाया कि एक-एक ही प्रतिबन्ध होनेसे वस्तुका यथार्थ ज्ञान नहीं होता और जहाँ अनेक प्रतिबन्ध हैं वहाँ यथार्थ ज्ञान कब हो सकता है।

श्रीनंगे परमहंसजी—'*प्रगट जुगल ससि*......' का भाव कि 'जिसकी बुद्धिमें द्वैत लगा है उसको श्रीरामजानकी दो देख पड़ते हैं, नहीं तो (दोनों) एक हैं। अतः श्रीरामजीके लिये जो मोह है कि श्रीजानकीजीके विरहमें खोजते हैं यह वृथा है।'

---

* अर्थान्तर—श्रीरामचन्द्रजीके विषयमें इस प्रकार मोहकी कल्पना करना वैसा ही है जैसा (मानसाङ्क)। सोहना=दीखना (मानसाङ्क)।

वेदान्तभूषणजी— *'चितव जो लोचन अंगुलि लाएँ।……'* इति। नेत्रमें अँगुली लगाकर दोनों पुतलियोंकी सीधको ऊपर, नीचे कर देनेसे दो चन्द्रमाकी प्रतीति होती है। उस अवस्थामें चन्द्रमाको दो मान लेना निस्सन्देह अज्ञान है, लेकिन दो चन्द्रकी प्रतीति होना अज्ञान नहीं है, क्योंकि दर्शन सामग्री एवं देश-भेदसे चन्द्रद्वयका प्रतीत होना सत्य है। इसका तात्पर्य यह है कि चक्षुगोलकोंकी नेत्रेन्द्रियोंके एक सीधसे हटकर ऊपर और नीचे हो जानेसे दो सामग्री हो जाती हैं, जिससे चन्द्रद्वयकी प्रतीति होती है। जैसे एक वस्तुको दो व्यक्ति एक साथ ही देखते हों वैसे ही अँगुली लगानेपर नेत्रेन्द्रियाँ दो जगह होकर एक साथ ही चन्द्रमाको देखती हैं। दो व्यक्तियोंके देखनेपर दोनों शरीरोंका अनुग्राहक जीवात्मा भिन्न-भिन्न होता है, इसीलिये उस पदार्थका दो रूपसे भासित होना नहीं माना जा सकता है। परंतु नेत्रमें अँगुली लगानेपर तो चक्षुरिन्द्रिय देखनेकी शक्तियाँ दो भागोंमें बँट जाती हैं। किंतु उनका अनुग्राहक प्रत्यगात्मा एक ही होनेके कारण चन्द्रद्वयकी प्रतीति होना '**सर्वविज्ञानयथार्थमितिवेदविदाम्मतम्**' इस शास्त्रसिद्धान्तके अनुसार सत्य है। इसीसे यहाँ श्रीशङ्करजीने, अँगुली लगानेके कारण जो चन्द्रद्वयकी प्रतीति होती है, उस प्रतीतिके यथार्थ होनेसे ही उसमें कोई दोष नहीं दिया, जैसे कि अन्य दृष्टान्तोंमें 'अज्ञानी, कुविचारी, मोहित और भ्रमित' आदि कहा है। शङ्का हो सकती है कि 'जब उन्हें उसमें कुछ अच्छा या बुरा कहना ही न था तब *'चितव जो लोचन अंगुलि लाएँ।……'* आदि कहनेका प्रयोजन ही क्या था?' इसका समाधान बहुत ही सरल है कि देखनेकी सामग्री दो हो जानेसे तो दो चन्द्रकी प्रतीति होनी ठीक ही है, परंतु ब्रह्मको 'अवधनृपतिसुत' से भिन्नको 'अगुण, अज आदि विशेषणयुक्त' देखना अथवा सगुण ब्रह्म और निर्गुण ब्रह्मको दो अवस्थावाला मान लेना सत्य नहीं किंतु अज्ञान है। क्योंकि ब्रह्मके जाननेका साधन औपनिषदिक ज्ञान दो भागोंमें विभक्त नहीं होता, किंतु धर्मभूतज्ञानके साथ तिरोहित हो जाता है और उसकी जगहपर अज्ञान एवं तज्जन्य मायामोह-भ्रमादि आसन जमा लेते हैं। इसीसे यहाँ *'चितव जो लोचन'* आदि कहना पड़ा।

टिप्पणी—२ *'उमा राम बिषइक अस मोहा।……'* इति। (क) यहाँतक जीव (देखनेवालों) के सम्बन्धका जैसा मोह है वैसा कहकर अब रामविषयक मोहको कहते हैं अर्थात् जो श्रीरामजीमें प्रत्यक्ष मोह देख पड़ता है (जैसे कि श्रीसीताजीको खोजना, उनके विरहमें विलाप करना, इत्यादि) वह कैसा है यह बताते हैं। *'नभ तम……'* (ख) *'नभ तम धूम धूरि जिमि सोहा'* इति। अर्थात् वह मोह ऐसा है जैसे तम, धूम और धूरिसे आकाश शोभित होता है। यहाँ *'सोहा'* एकवचन क्रिया है। यदि आकाशके द्वारा तम, धूम, धूरिकी शोभा कहनी होती तो सोहे बहुवचन कहते। (ग) *'सोहा'* कहनेका भाव कि तम-धूम-धूरिसे आकाशकी अशोभा नहीं हुई, किंतु शोभा ही हुई। इसी प्रकार मोह (की लीला) से श्रीरामजी अशोभित नहीं हुए वरं च शोभित हुए हैं। तात्पर्य कि नरतनमें मोहादिके ग्रहणसे माधुर्यकी शोभा है, ऐश्वर्य प्रकट होनेसे स्वाँगकी शोभा नहीं रह जाती। [मोह आदि जो नरनाट्यमें दिखाये गये हैं उनसे श्रीरामजीकी भी शोभा है। यदि वे ऐसी लीला न करते तो शोभा न होती। क्योंकि प्रभुने नर-शरीर धारण किया है। जैसे नाट्य करनेमें यदि नटका स्वरूप खुल जाय तो नटकी शोभा नहीं रह जाती, वैसे ही प्रभुके माधुर्य नरनाट्यमें यदि लोग यह जान जाते कि ये परात्पर ब्रह्म हैं तो फिर नरनाट्य ही कहाँ रह जाता? ऐश्वर्य न प्रकट हो इसी विचारसे तो श्रीशङ्करजी समीप न गये थे, यथा—*'गुप्त रूप अवतरेउ प्रभु गएँ जान सब कोइ'।* ऐसा ही श्रीवाल्मीकिजीने कहा है। यथा—*'नर तनु धरेहु संत सुर काजा। कहहु करहु जस प्राकृत राजा॥ राम देखि सुनि चरित तुम्हारे। जड़ मोहहिं बुध होहिं सुखारे॥ तुम्ह जो कहहु करहु सबु साँचा। जस काछिय तस चाहिय नाचा॥'* (२। १२७) प्रभुके नरनाट्यकी शोभा यही है कि लीलाको देख-देख सब वाह-वाह ही करते रहे कि खूब भेष बनाया, जैसा भेष वैसा ही नाट्य। श्रीभुशुण्डीजीने भी गरुड़जीसे ऐसा ही कहा है, यथा—*'जथा अनेक बेष धरि नृत्य करइ नट कोइ। सोइ सोइ भाव देखावइ आपुन होइ न सोइ॥'* (७।७२) *असि रघुपति लीला उरगारी। दनुज बिमोहनि जन सुखकारी॥'* अध्यात्मरामायणमें वसिष्ठजीने कहा है। यथा—'**देवकार्यार्थसिद्ध्यर्थं भक्तानां भक्तिसिद्धये। रावणस्य वधार्थाय**

**जातं जानामि राघव॥ २४॥ तथापि देवकार्यार्थं गुह्यं नोद्घाटयाम्यहम्। यथा त्वं मायया सर्वं करोषि रघुनन्दन॥ २५॥ तथैवानुविधास्येऽहं शिष्यस्त्वं गुरुरप्यहम्'** (२। २) अर्थात् हे राघव! मैं जानता हूँ, आपने देवताओंका कार्य सिद्ध करनेके लिये, भक्तोंकी भक्ति सफल करनेके लिये और रावणका वध करनेके लिये ही अवतार लिया है॥ २४॥ तथापि देवताओंकी कार्यसिद्धिके लिये मैं इस गुप्त रहस्यको प्रकट नहीं करता। हे रघुनन्दन! जैसे आप मायाके आश्रयसे सब कार्य करेंगे वैसे ही मैं भी 'तुम शिष्य हो और मैं गुरु हूँ' इस सम्बन्धके अनुकूल व्यवहार करूँगा।'

नोट—४ *'नभ तम धूम धूरि'* इति। तम, धूम और धूरि दार्ष्टान्तमें क्या हैं, इसमें मतभेद है।

(१) पं० रामकुमारजीका मत है कि—(क) यहाँ श्रीरामजी नभ हैं, राजसी, सात्त्विकी और तामसी मोह क्रमसे तम, धूम और धूरि हैं। ये श्रीरामजीको स्पर्श नहीं कर सकते। (जैसे तमादि आकाशका स्पर्श नहीं कर सकते, उसका अंत नहीं पा सकते। यथा—*'तुम्हहिं आदि खग मसक प्रजंता। नभ उड़ाहिं नहिं पावहिं अंता॥ तिमि रघुपति महिमा अवगाहा। तात कबहुँ कोउ पाव कि थाहा॥'* (७। ९१) अथवा, (ख) जैसे आकाशमें तम, धूम और धूरि सोहते हैं, वैसे ही श्रीरामजीमें मोह शोभित हो रहा है। तम तमोगुण है, धूम सत्त्वगुण और धूरि रजोगुण है। इन मायिक गुणोंसे ईश्वर मलिन न होकर शोभाहीको प्राप्त होता है। तात्पर्य यह कि श्रीरामजीके ग्रहण करनेसे 'मोह' की 'लीला' संज्ञा हुई जिसके गानसे जीव कृतार्थ होता है।

(२) श्रीबैजनाथजी लिखते हैं कि 'आकाश सदा एकरस निर्मल शोभित है। उसमें देखनेमात्रको अन्धकारसे विशेष आवरण, धूरिसे सामान्य और धूमसे किञ्चित् आवरण दिखायी पड़ता है सो देखनेवालेको देखने-मात्रका आवरण है, आकाश तो सदा अमल है। वैसे ही विषयी जीवोंको अपने मोहसे प्रभुमें मोह दिखायी पड़ता है। आत्मरूपमें ८ आवरण हैं। १ प्रकृति, २ बुद्धि, ३ त्रिगुणाभिमान, ४ आकाश, ५ वायु, ६ अग्नि, ७ जल, ८ पृथ्वी। वायुतक जीवको ज्ञान रहता है। जब अग्नितत्त्वमें आया तब किञ्चित् आवरण हुआ, जैसे धूमसे आकाशमें (सतीजी, गरुड़जी आदि ज्ञानियोंको जैसे मोह हुआ)। जलतत्त्वका आवरण सामान्य आवरण है, जैसे आकाशमें धूल (जैसे रावणादि विमुख जीव जानते हुए भी प्रभुमें मनुष्यत्वका आरोपण करते थे)। पृथ्वीतत्त्व आवरण होनेसे जीव विषयी हुआ, यह विशेष आवरण है, जैसे अंधकार—(विषयी प्रभुमें ईश्वरता देखते ही नहीं)'

(३) वीरकविजी (श्रीबैजनाथजीके ही भावको लेकर) इस प्रकार लिखते हैं कि आकाश निर्लेप है। धूल धरतीका विकार है, धुआँ अग्निका और तम सूर्यके अदृश्य होनेका। कारण पाकर ये आकाशमें फैलते और स्वयं विलीन हो जाते हैं। आकाश इनके दोषोंसे सर्वथा अलग है, वह ज्यों-का-त्यों निर्मल बना रहता है। यहाँ भी उदाहरण अलंकार है।

(४) श्रीनंगे परमहंसजी लिखते हैं कि जैसे आकाशमें तम, धूम और धूरि देख पड़ते हैं किंतु आकाशमें ये कोई विकार नहीं हैं, वैसे ही श्रीरामजीके विषयमें (उनके नरनाट्यमें) बालचरित, श्रीसीतावियोगविरह और रणक्रीड़ा करके रावणादिका वध दिखलायी पड़े हैं, पर ये कोई श्रीरामजीमें हैं नहीं क्योंकि तम, धूम, धूरि ये सब आकाशमें कारणसे हैं, वैसे ही श्रीरामजीके चरितमें बालचरित आदि सब कारण पाकर हुए हैं। जैसे तम, धूम और धूरिके कारण कुहरा, अग्नि और पवन हैं वैसे ही बालचरितका कारण मनुशतरूपाका वरदान है। (दोनोंने वर माँगा था कि हमारे पुत्र हों और प्रभुने उनको यह वर दिया भी, यथा—*'चाहौं तुम्हहिं समान सुत प्रभु सन कवन दुराउ।'* (१। १४९)""*'एवमस्तु करुनानिधि बोले।' 'जो बरु नाथ चतुर नृप माँगा। सोइ कृपाल मोहिं अति प्रिय लागा॥'*""१५०।*'जो कछु रुचि तुम्हरे मन माहीं। मैं सो दीन्ह सब संसय नाहीं॥', 'इच्छामय नरवेष सँवारें। होइहौं प्रगट निकेत तुम्हारें॥ अंसन्ह सहित देह धरि ताता। करिहौं चरित भगत सुखदाता॥'* (१। १५२) सीताविरहका कारण नारदजीका शाप है। यथा—*'मम अपकार कीन्ह तुम्ह भारी। नारि बिरह तुम्ह होब दुखारी॥ श्राप सीस धरि हरषि हिय""।'* (१। १३७)*'मोर साप करि अंगीकारा।*

***सहत राम नाना दुखभारा॥***' (३। ४१) रणक्रीड़ा तथा रावणादिके वधके कारण ब्रह्मस्तुति एवं आकाशवाणी है। रणक्रीड़ामें नागपाशबंधन, अठारह दिनतक रावणसे संग्राम करके तब उसका वध करना इत्यादि रणकी शोभाके लिये है। यही शिवजीने बताया है। यथा—'***नट इव कपट चरित कर नाना। सदा स्वतन्त्र एक भगवाना॥ रनसोभा लगि प्रभुहिं बँधायो*****' (६। ७२)। नहीं तो '***भृकुटिभंग जो कालहि खाई। ताहि कि सोहइ ऐसि लराई॥***' (१। ६५) रावणवधके कारण ब्रह्मस्तुति, आकाशवाणी और रावणका वरदान है। यथा—'***मुनि सिद्ध सकल सुर परम भयातुर नमत नाथ पदकंजा।*****॥' (१। १८६) '***हरिहौं सकल भूमि गरुआई। निर्भय होहु देव समुदाई॥ गगन ब्रह्मबानी सुनि काना। तुरत फिरे सुर हृदय जुड़ाना॥*** '***हम काहू के मरहिं न मारे। बानर मनुज जाति दुइ बारे॥***' (१। १७७) '***रावन मरनु मनुज कर जाचा। प्रभु बिधि बचन कीन्ह चह साचा॥***' (१। ४९) जैसे आकाशमें कुहरा, अग्नि और पवनरूपी कारणोंका अभाव होनेसे तम, धूम आदि कार्योंका अभाव हो जाता है (वैसे ही सबके वरदानों आदिकी पूर्ति बालचरित, सीताविरह, रावणवध आदि कार्योंद्वारा हो जानेपर फिर ये मोह लीलारूपी कार्य नहीं रह जाते। जिनसे लोगोंको भ्रम हो जाता है) और, आकाश कार्य-कारणसे रहित सदा स्वच्छ है, वैसे ही श्रीरामजी इन कार्य-कारणोंसे रहित, अर्थात् उनसे परे, सदा स्वच्छ, निर्मल, निर्विकार हैं। यथा—'***सुद्ध सच्चिदानंदमयकंद भानुकुल केतु। चरित करत नर अनुहरत संसृति सागर सेतु॥***' (२। ८७)

(५) मयङ्ककार कहते हैं कि 'शिवजीके वचनका तात्पर्य यह है कि रामविषयक मोहरूपी तमने गरुड़के हृदयको तमवत् आच्छादित किया और तुम्हारे हृदयको धूमवत् आच्छादित किया और भरद्वाज मुनिके हृदयको धूरवत् आच्छादित किया, तब उनके संदेह निवारणार्थ कागभुशुण्डी, मैं और याज्ञवल्क्यने पराभक्तिमय कथाको कहा, जिससे वह सब दूर हो गये और उन्हींके द्वारा जगत्‌में इस कथाका प्रचार हुआ।' सारांश यह कि गरुड़जीको रणमें प्रभुका बंधन देखकर, तुमको (सतीतनमें) सीताविरहविलाप एवं वनलीला देखकर और भरद्वाजको स्त्रीविरह तथा रोषयुक्त हो रावणवध करने इत्यादिमें जो मोह हुआ वही क्रमशः तम, धूम और धूरि है। [परंतु इस भावमें यह शंका उपस्थित होती है कि क्या उस समय श्रीभरद्वाज-याज्ञवल्क्य-संवाद हो चुका था, जब शिवजीने श्रीपार्वतीजीसे यह कथा कही? याज्ञवल्क्यजीके '***ऐसेइ संसय कीन्ह भवानी। महादेव तब कहा बखानी॥ कहौं सो मति अनुहारि अब उमा संभुसंबाद॥***' (१। ४७) से विरोध होता है। यदि भरद्वाजजीकी जगह श्रीभुशुण्डिजीका मोह लें तो कुछ अच्छा अवश्य हो जाता है, पर तीनों संवादोंका इन तीन दृष्टान्तोंमें लानेकी बात चली जाती है। ]

नोट—५ यहाँतक बाहरके आवरण कहे, आगे भीतरके आवरण कहते हैं। (पं० रा० कु०)

प० प० प्र०—१ '***चितव जो*****' इति। (क) इस दृष्टान्तमें यह भेद है कि यहाँ नयनदोष जानबूझकर निर्माण किया गया है। निसर्ग और हरिमाया यहाँ अज्ञान और भ्रमका कारण नहीं है। '***नयन दोष जा कहँ जब होई।*****' यह दृष्टान्तसदृश नहीं है। यहाँ नयनदोष प्राकृतिक है, सहज ही पैदा हुआ है और यहाँ '***चितव जो*****' में नयनदोष जानबूझकर अल्पकालके लिये निर्माण किया गया है—दोनोंमें इतना भेद है। पाखण्डीलोग जानबूझकर ऐसा करते हैं। रावण ठीक-ठीक जानता था पर जानबूझकर प्रभुपर मनुष्यत्वका आरोप करता रहा। (ख) मोहपिशाचग्रस्त पाखण्डी हरिपदविमुख और '***जानहिं झूठ न साँच***' वालोंके मोहभ्रमादिके हेतु भिन्न-भिन्न होते हैं, पर '***प्रभु पर मोह धरहिं***' यह कार्य एक ही है।

२ '***नभ तम धूम धूरि जिमि सोहा***' इति। '***सोहा***' एकवचन है। '***धूरि***' कर्ता होता तो '***सोही***' चाहिये था। तम, धूम, धूरि तीनोंको साथ ले लें तो '***सोहहिं***' चाहिये था। अतः '***नभ सोहा***' ऐसा लेनेसे अर्थ होता है कि तम, धूम और धूरिके कारण आकाश सोहता है, उसकी कुछ हानि नहीं होती।

तम (अन्धकार) में ही आकाशकी शोभा मनोहर लगती है। दिनमें सूर्यके प्रकाशमें आकाश नयनमनोहर नहीं होता। रामचरित्रमें अज्ञान, मोह, भ्रम, हर्ष-शोक आदि विकार जो दीखते हैं वे उनकी शोभा ही बढ़ाते

हैं—'*फूलें कमल सोह सर कैसा। निर्गुन ब्रह्म सगुन भएँ जैसा।*' रात्रिमें ही असंख्य तारागण, ग्रहादिक आकाशस्थ देदीप्यमान मणिदीपोंके समान उस सुनील आकाशपटलपर मनोहर लगते हैं, उससे प्रसन्नता और शीतलताका लाभ होता है। उसपर भी यदि राकारजनी और राकाशशि हों तब तो उस मनोहरतासे परमानन्द आदि होते हैं और चकोरको तो परम सुख और सुधाकी प्राप्ति होती है। चक्रवाक दुःखी होते हैं। निर्गुण ब्रह्ममें मायाका संयोग होनेपर सगुण ब्रह्म दीखता है, इसमें यदि '*राका रजनी भगति तव राम नाम सोइ सोम*' और'*रामचरित राकेसकर*' भी हों तो सन्त-चकोरोंको सुखकी परम सीमा ही उपलब्ध होती है। तम तमोगुणका प्रतीक है, अज्ञानका उपमान है। वह आकाशस्थ तम आकाशको स्पर्शतक नहीं करता। इसी प्रकार राम-कृष्णादिके तमोगुणी चरित भी भक्तोंको सुखदायक, दुर्जनोंको विमोहक और सुरहितकारी ही होते हैं।

३ 'धूम' धूसर होता है पर ऊर्ध्वगामी है और ऊर्ध्वगति सत्त्वगुणका लक्षण है—'**ऊर्ध्वं गच्छन्ति सत्त्वस्थाः**' (गीता) अतः धूमसे भगवान्के सत्त्वगुणी चरित्र समझना चाहिये। निर्गुण-निराकार ब्रह्ममें सत्त्वगुण भी नहीं है। धूमको आकाशमें फैलानेमें वायुकी आवश्यकता है, वातकी मदद बिना गतिका अस्तित्व ही नहीं रहता। वायु (=माया)+निर्गुण-निराकार ब्रह्म=सगुण-साकार ब्रह्म। उनके सत्त्वगुणी लीलाचरित आकाशगामी धूमके समान आकाशकी शोभाके वर्धक ही होते हैं। प्रतिक्षण इस धूमकी गति और दिशा पलटती है। वह आकाशगामी धूम भी नयनमनोहर होता है, इसीसे लोग उसका फोटो लेते हैं। इन चरित्रोंके पठन-पाठन, कथन-श्रवण और अनुकरणसे ज्ञान-भक्ति-लाभ होता है और जैसे वह धूम आकाशमें समा जाता है, वैसे ही ज्ञानी भक्त जीव ब्रह्ममें लीन हो जाता है अथवा हरिधामगमनरूपी सर्वोत्तम परमोच्च गतिको प्राप्त होता है।

४ 'धूरि' रजोगुणका प्रतीक है। धूरि=रज। '*रज मग परी निरादर रहई*' पर '*गगन चढ़त रज पवन प्रसंगा।*' आकाशमें चढ़नेके लिये इसे भी पवनकी आवश्यकता है। वह आकाशगामी रज आकाशकी शोभा ही बढ़ाती है। वैसे ही प्रभुके रजोगुणी चरित हर्ष-शोक, विरह-विलापादि, कामीजनोंके-से चरित्र विवाहोत्सव, पुत्र-जननादि सभी चरित्र रजोगुणी हैं। पर इन चरित्रोंके पठन-पाठनादिसे जीवके हृदयाकाशका रजोगुण भाग जाता है और वह स्वच्छ निर्मल बन जाता है। वायु और अग्नि (सूर्यकी उष्णता) की सहायतासे जो वाष्प तैयार होता है उसको जलधर बनानेके लिये आकाशस्थ अति सूक्ष्म रजःकणोंका ही उपयोग होता है और वह जलद जगजीवनदाता होता है, वाष्प नहीं। निर्गुण ब्रह्मरूपी आकाशमें रजोगुणी सगुणचरित्ररूपी लीलाधूरि मायारूपी पवनकी गतिसे उड़ती है। भाव कि वह निर्गुण ब्रह्म ही करुणाघन, दयाघन बनकर कृपावारिकी वृष्टि करता है '*कृपा-बारिधर राम खरारी*' भक्त भव-हारी होते हैं। निर्गुण ब्रह्म ग्रीष्म-ऋतुके दिवसके आकाशके समान है। जीवके हृदयका रजोगुण '*रज मग परी निरादर रहई*' के समान '*सबके पद प्रहार नित सहई*'। सगुण चरित्रमें त्रिगुणात्मक लीला ही मनोहर और प्रलोभनीय होती है।

वि० त्रि०—अब विक्षेप कहते हैं। आवरणसे आत्माका अज्ञान होता है, विक्षेपसे द्वैतकी प्रतीति होती है। अपनी आँखमें उँगलीद्वारा विक्षेप हुआ, चन्द्रमाको कोई विक्षेप नहीं हुआ, अच्छी तरह मालूम है कि एक है, पर चन्द्रमा दो दिखलायी पड़ने लगते हैं। जगत्का आभास कर्म-दोषोंसे उत्पन्न है, उसकी निवृत्ति ज्ञानमात्रसे नहीं हो सकती। चूक अपनी है, चन्द्रमाकी नहीं। इसी भाँति अपना द्वैत भाव राममें दिखायी पड़ता है। जबतक कार्यका लय नहीं होगा, व्यवहारलय नहीं हो सकता। इसी भाँति स्वयं मलावृत होनेसे रामजीमें मलिनता दिखायी पड़ने लगती है। हमें जब अन्धकार, धूम और धूलिका अनुभव होता है, तब कहते हैं कि आकाश अन्धकार, धूम और धूलिसे भर गया। तमसे सूक्ष्म, धूमसे स्थूल और धूलिसे स्थूलतर मल कहा। यहाँ ब्रह्मकी उपमा आकाशसे दी गयी, क्योंकि आकाश और चिदात्मा विलक्षण नहीं हैं। दोनों ही सूक्ष्म, निर्मल, अज, अनन्त, निराकार, असङ्ग और सबके भीतर-बाहर व्याप्त हैं। चैतन्यपूर्ण आत्मा ही आकाश है, उसमें किसी वस्तुका लेप नहीं हो सकता। जीव समझता है कि जैसी हमें सच्ची विकलता होती है, वैसी ही रामजीको भी होती है। यह निर्गुण-निराकारमें अध्यासका उदाहरण है। वह सबका प्रकाशक है, उसमें अज्ञानान्धकार कहाँ?

**बिषय करन सुर जीव समेता। सकल एक तें एक सचेता॥ ५॥**
**सब कर परम प्रकासक जोई। राम अनादि अवधपति सोई॥ ६॥**

शब्दार्थ—**करन** (करण)=इन्द्रियाँ। **सचेत**=चेतनयुक्त चैतन्य, सजग, स्फूर्त। **प्रकासक**=प्रकाश करनेवाले। जिसकी सत्तासे किसी अन्य वस्तुका अस्तित्व कायम रहे वह 'प्रकाशक' और वह वस्तु 'प्रकाश्य' कहलायेगी। जैसे अन्धेरेमें दीपकद्वारा हम किसी वस्तुको देखते हैं तो दीपक 'प्रकाशक' है और वह वस्तु 'प्रकाश्य' है। दीपकको हटा दिया जाय तो वह वस्तु स्वयं लुप्त हो जायगी। इसी तरह श्रीरामजी समस्त वस्तुओंके प्रकाशक हैं। (लाला भगवानदीनजी) उनके सत्तारूपी प्रकाशसे जगत् भासित होता है, अनुभवमें आता है, अतः जगत् प्रकाश्य है, जैसा आगे कहते हैं।

अर्थ—विषय, इन्द्रियाँ, इन्द्रियोंके देवता और जीव सब-के-सब (प्रतिलोमरीतिसे) एक-दूसरे (की सहायता) से चैतन्य होते हैं॥ ५॥ जो सबका परम प्रकाशक है (अर्थात् जिसके कारण सबका अस्तित्व अनुभवमें आता है) वही अनादि (ब्रह्म) अयोध्यापति श्रीरामजी हैं॥ ६॥

टिप्पणी—१ (क) *'बिषय करन……'* इति। पूर्व कह आये हैं कि श्रीरामजी सहज प्रकाशरूप एवं प्रकाशनिधि हैं—*'सहज प्रकासरूप भगवाना।……' 'पुरुष प्रसिद्ध प्रकासनिधि।'* (११६) अब उनका प्रकाश कहते हैं। विषय इन्द्रियोंसे, इन्द्रियाँ देवताओंसे और देवता जीवसे उत्तरोत्तर सचेत हैं। विषय, करण आदि एक-से-एक उत्तरोत्तर श्रेष्ठ हैं। विषयमें इन्द्रियोंको आकर्षण करनेकी शक्ति है, यही विषयकी चैतन्यता है।* [विषय, इन्द्रियाँ उनके देवताओंके नाम निम्न चार्ट (नकशे) से स्पष्ट हो जायँगे। प्रत्येक इन्द्रियपर एक-एक देवताका वास है; यथा—*'इंद्री द्वार झरोखा नाना। तहँ तहँ सुर बैठे करि थाना॥ आवत देखहिं बिषय बयारी। ते हठि देहिं कपाट उघारी॥'* (उ० ११८) इन्द्रियोंमें चेतनता उनके देवताओंसे आती है, यदि देवता अपना वास उनपरसे हटा लें तो वे कुछ काम नहीं कर सकतीं, इसी भाँति विषय इन्द्रियोंसे चेतनता पाते हैं और इन्द्रियोंके देवता जीवसे प्रकाश पाते हैं। शरीरके जीवरहित होनेपर देवता इन्द्रियोंको सचेत नहीं कर सकते। जीव भी बिना श्रीरामजीकी सत्ताके कुछ नहीं कर सकता है।

| | विषय— | इन्द्रियाँ— | | इन्द्रियोंके देवता— |
|---|---|---|---|---|
| पञ्चतन्मात्रा / ज्ञानेन्द्रियोंके विषय | शब्द | श्रवण | ज्ञानेन्द्रियाँ | दिशा |
| | स्पर्श | त्वचा (त्वक्) | | पवन |
| | रूप | नेत्र | | सूर्य |
| | रस | जिह्वा | | वरुण वा प्रचेता |
| | गंध | नासिका | | अश्विनीकुमार |
| कर्मेन्द्रियोंके विषय | भाषण, भक्षण | वाणी (मुख) | कर्मेन्द्रियाँ | अग्नि |
| | लेना-देना | हाथ | | इन्द्र |
| | चलना | पैर | | जगविष्णु उपेन्द्र |
| | मल-त्याग | गुदा (पायु) | | यम वा मित्र |
| | मैथुन-मूत्रत्याग | उपस्थ | | प्रजापति वा मृत्यु |
| | संकल्प करना | मन | अन्तःकरण | चन्द्रमा |
| | निर्णय करना | बुद्धि | | ब्रह्मा |
| | धारणा | चित्त | | विष्णु वा अच्युत वा वासुदेव |
| | अहंता होना | अहंकार | | शिव (रुद्र) |

* 'विषय' का अर्थ देश और आश्रय भी होता है। इस अर्थको लेकर किसीका कहना है कि करण, सुर और जीव सभीका आश्रय या देश देह है, इस तरह 'विषय' का अर्थ देह भी होता है। देह जड़ होनेपर भी जीवका चैतन्य लेकर ही सचेत होता है।

नोट—१ *'बिषय करन सुर'''''''* इति। अद्वैतमतानुसार भाव यह कहा जाता है कि 'जीव चेतन है, सुर भी जीव होनेसे चेतन हैं और विषय तथा करण जिसमें मनका भी समावेश है मायाके कार्य होनेसे जड़ हैं। जैसे तारमें बिजली और कोयलेमें अग्निके प्रविष्ट होनेसे तार तथा कोयला प्रकाशरूप देखनेमें आता है, वैसे ही चेतन जीव मनमें व्याप्त होनेसे मन चैतन्ययुक्त अर्थात् सचेत होता है। मनसे और देवताओंसे इन्द्रियाँ तथा देह सचेत होते हैं। जीव ब्रह्मका प्रतिबिम्ब है। अतः जैसे चन्द्रका प्रकाश और जल आदिमें पड़े हुए सूर्यप्रतिबिम्बका प्रकाश वस्तुतः सूर्यके ही प्रकाश हैं वैसे ही जीवका चैतन्य भी श्रीरामजीका ही है। इस प्रकार श्रीरामजी सबके परम प्रकाशक अर्थात् सबको सचेत करनेवाले हैं।

नोट—२ विशिष्टाद्वैतमतानुसार जीव स्वयं चेतन है तथापि प्रलयावस्थामें देह, मन, इन्द्रियाँ आदि न होनेसे वह जडवत् ही रहता है। जब श्रीरामजीकी इच्छासे देहादिकी सृष्टि होती है तब उसमें प्रविष्ट होकर वह चेतनताका व्यवहार करता है। अतः उसको भी सचेत करनेवाले श्रीरामजी हुए। अथवा मायावशात् यह जीव अचेत अर्थात् अज्ञानाच्छादित रहता है, मैं कौन हूँ, मेरा क्या कर्त्तव्य है, इत्यादिका ज्ञान उसको नहीं रहता। जब श्रीरामजीकी कृपा होती है तब वह सचेत होता है।

टिप्पणी—२ *'सब कर परम प्रकासक जोई।''''''* इति। (क) सबके *'परम प्रकासक'* कथनका भाव कि करण, सुर और जीव—ये सब एक-ही-एकके प्रकाशक हैं और श्रीरामजी सबके प्रकाशक हैं। पुनः, भाव कि करण, सुर और जीव—ये सब प्रकाशक हैं और श्रीरामजी *'परम प्रकासक'* हैं। इन्द्रिय-सुर-जीवके प्रकाशसे विराट् (समष्टि ब्रह्माण्डगोलक) चैतन्य न हुआ, किन्तु श्रीरामजीके प्रकाशसे चैतन्य हुआ। [यथा—'**वर्षपूगसहस्रान्ते तदण्डमुदकेशयम्। कालकर्मस्वभावस्थो जीवोऽजीवमजीवयत्॥**' (भा० २। ५। ३४) अर्थात् वह अण्ड एक सहस्र वर्षतक जलमें पड़ा रहा, तदनन्तर काल-कर्म-स्वभावस्थित जीव (सबको अपने स्वरूपमें स्थित रखनेवाले परमात्मा) ने उस निर्जीव अण्डको सजीव कर दिया। ] (ख) *'राम अनादि अवधपति सोई'* अर्थात् जो सबका परम प्रकाशक परमात्मा है वही श्रीरामजी हैं। 'अनादि'का भाव कि विषयकरणादिके आदि श्रीरामजी हैं और श्रीरामजीका आदि कोई नहीं है वे अनादि हैं। अनादि देहलीदीपकन्यायसे राम और अवधपति दोनोंके साथ है 'अनादि अवधपतिका भाव कि अनादिकालसे अवधपति हैं (*'अनादि अवधपति'* कथनसे अवधकी भी अनादिता सूचित कर दी। इस विशेषणसे जनाया कि त्रेतायुगसे ही ये अवधपति नहीं हुए किन्तु अनादि-कालसे हैं। पुनः, 'अनादि राम' कहनेसे निर्गुण ब्रह्मका बोध होता, इसीसे सगुणवाचक पद 'अवधपति' दिया।) (ग) श्रीरामजी सबके प्रकाशक कैसे हैं यह '**यत्सत्त्वादमृषैव भाति सकलं**''''''' मं० श्लो० ६ की व्याख्यामें भी देखिये। अद्वैत और विशिष्टाद्वैत दोनों मतोंके अनुसार ब्रह्म सबका परम प्रकाशक है। अद्वैतमतानुसार ब्रह्मका परमप्रकाशकत्व ऊपर *'बिषय करन सुर'* पर नोट १ में एक प्रकारसे दिया ही है, दूसरा प्रकार ऐसा है—इस मतमें भ्रमका अधिष्ठान ही उसका (भ्रमका) प्रकाशक है, जैसे रस्सीपर सर्पका भ्रम होता है। यहाँ सर्पका भास करानेवाली रस्सी ही है। रस्सी यहाँ न होती तो सर्पका भास न होता। अतः सर्पका प्रकाशक रस्सी है। परंतु विचार करनेपर रस्सी भी भ्रम ही है; वस्तुतः यह सन है। (सनको ही ऐंठन आदि देनेसे रस्सी, टाट, बोरा आदि अनेक पदार्थ मानते हैं, परंतु सर्वसाधारणको यह बात ध्यानमें नहीं आती) अतः सिद्ध हुआ कि सर्पका प्रकाशक रस्सी है और रस्सीका प्रकाशक सन है; इसलिये सर्पका परम प्रकाशक सन है। ऐसे ही दुनियामें जो ये अनेक पदार्थ अनुभवमें आते हैं उनमें एकका दूसरा प्रकाशक है; जैसे परई, पुरवा आदिका मृत्तिका; घड़ा, लोटा, गिलास आदिका ताँबा; कटक, कुण्डल आदिका सुवर्ण; धोती, कुरता आदिका रूई प्रकाशक है; परंतु मृत्तिका, ताँबा, सुवर्ण और रूई इत्यादिका भी मूल प्रकाशक परब्रह्म ही है। अतः इन सब अनन्त पदार्थोंका परम प्रकाशक (इनका मूलतत्त्व) परब्रह्म परमात्मा श्रीरामजी ही हैं। विशिष्टाद्वैतमतानुसार भी पूर्व नोट २ में एक प्रकार कहा है, दूसरा—जैसे सूर्य अग्नि आदि सबको प्रकाशित करते हैं, परंतु उनको भी प्रकाशित करनेवाले श्रीरामजी हैं, यथा—'**यदादित्यगतं तेजो जगद्भासयतेऽखिलम्। यच्चन्द्रमसि यच्चाग्नौ तत्तेजो विद्धि मामकम्।**' (गीता १५। १२) इत्यादि।

वि० त्रि०—'*निज भ्रम नहिं समुझहिं अज्ञानी।*' (११७। १) से यहाँतक शिवजीने शारदाकी ओरसे उत्तर दिया।

**जगत प्रकास्य प्रकासक रामू। मायाधीस ज्ञान गुन धामू॥७॥**
**जासु सत्यता तें जड़ माया। भास सत्य इव मोह सहाया॥८॥**

शब्दार्थ—**प्रकाश्य, प्रकाशक**—ऊपर चौ० ५-६ में देखिये। **मायाधीश**=मायाका स्वामी वा प्रेरक एवं अधिष्ठाता। **सहाया**=सहायतासे।

अर्थ—यह सब जगत् प्रकाश्य है। मायाके अधिष्ठाता, ज्ञान और गुणोंके धाम श्रीरामजी प्रकाशक हैं॥७॥ जिनकी सत्यतासे जड माया भी मोहकी सहायतासे सत्य-सी जान पड़ती है॥८॥

टिप्पणी—१ '*जगत प्रकास्य*......' इति। ☞ अन्तर्प्रकाश (भीतरका प्रकाश) कहकर अब बाहरका प्रकाश कहते हैं। जगत् प्रकाशमान है, श्रीरामजी प्रकाशकर्ता हैं। जगत् कार्य है; उसमें प्रकाश कहकर अब (आगे) जगत्के कारणमें प्रकाश कहते हैं। जगत्का कारण माया है। 'श्रीरामजी मायापति हैं, ज्ञानगुणधाम हैं, इस कथनका भाव यह है कि मायाकी जडता और अवगुण (विकार) इनमें नहीं आते। ये तो मायाको ज्ञान और गुण देते हैं, तब उनसे वह जगत्की रचना करती है, यथा—'*एक रचइ जग गुन बस जाके।*'

नोट—१ 'प्रकाशक', 'मायाधीश', 'ज्ञानगुणधाम'। इन विशेषणोंको देकर सूचित करते हैं कि श्रीरामचन्द्रजी जगत्के प्रकाशक और कारण, और केवल जगत्हीके नहीं वरन् जगत्को रचनेवाली मायाके भी प्रकाशक हैं। मायाको जड़ कहा अर्थात् बताया कि उसमें अपनी कुछ शक्ति नहीं है, उसमें श्रीरामजीकी शक्ति है, इसीसे श्रीरामजीको मायाका स्वामी कहा। श्रीभुशुण्डिजीने भी कहा है कि '*माया खलु नर्तकी बिचारी*' है (उ० ११६), जैसा नाच श्रीरामजी नचाते हैं वैसा नाचती है। यथा—'*सोइ प्रभु भ्रू बिलास खगराजा। नाच नटी इव सहित समाजा॥*' (७। ७२)

'मायाधीश कहनेसे यह शङ्का होती है कि मायाके सम्बन्धसे श्रीरामजीमें भी मायाजनित अज्ञान और अवगुण होंगे? इस शङ्काके निवारणार्थ '*ज्ञान गुन धामू*', विशेषण दिया अर्थात् श्रीरामजीमें मायाके विकार नहीं हैं, वे तो ज्ञान और गुणोंके धाम हैं, उन्हींसे ज्ञान और गुण पाकर माया जगत्की रचना करती है। (मा० पी० प्र० सं०)

'*ज्ञान गुन धामू*' ज्ञानादि दिव्य गुणोंके धाम हैं। यथा—'**ज्ञानबलैश्वर्यवीर्यशक्तितेजः-सौशील्यवात्सल्यमार्दवार्जवसौहार्दसौम्यकारुण्यमाधुर्यगाम्भीर्यौदार्यस्थैर्यधैर्यशौर्यपराक्रमसत्यकामसत्यसंकल्पकृतित्व-कृतज्ञताद्यसंख्येयकल्याणगुणगुणौघमहार्णव इति रामानुजमन्त्रार्थे।**' **पुनर्भगवद्गुणदर्पणे** यथा—'**ज्ञानशक्ति-बलैश्वर्यवीर्यतेजांस्यशेषतः। भगवच्छब्दवाच्यानि विना हेयैर्गुणादिभिः॥ हेयप्रत्यनीकत्वाशेषत्वाभ्यां सह गुणाष्टकमिदम्। जगदुत्पत्त्यादिव्यापारेषु प्रधानकारणम्॥ आश्रयणभजनोपयोगिनोऽन्ये गुणा वक्ष्यन्ते तत्र सत्यत्वज्ञानत्वानन्तत्वैकत्व-विभुत्वामलत्वस्वातन्त्र्यानन्दत्वादयाः।**' इत्यादि। (बैजनाथजी)

मूलरामायणमें नारदजीने श्रीरामचन्द्रजीके अनेक गुण वर्णन किये हैं, जो विशेष देखना चाहें (वा० १। १) देख लें। इनमेंसे यदि एक गुण भी किंचित् मात्रामें किसीमें आ जाता है तो वह महात्मा और सिद्ध हो जाता है।

नोट—२ '*जासु सत्यता तें*......' इति। (क) जिन शब्दोंके अनेक अर्थ होते हैं उनका प्रकरणानुसार जो अर्थ ठीक बैठता है वही लिया जाता है, जैसे 'हरि' शब्द मानसमें (१) '**रामाख्यमीशं हरिम्।** (मं० श्लो० ६) (२) '*कृपासिंधु नररूप हरि।*' (मं० सो० ५) (३) '*कह प्रभु सुनु सुग्रीव हरीसा।* (४। १२। ७) इत्यादि स्थानोंमें पृथक्-पृथक् अर्थमें आया है। (१) में जीवोंके क्लेश हरनेवाले अथवा भगवान्। (२) में भगवान् अथवा सूर्य और (३) में बन्दर अर्थ लिया गया है। वैसे ही झूठ, मृषा, मिथ्या आदि शब्दोंका प्रयोग तुलसीग्रन्थावलीमें भिन्न-भिन्न स्थलोंमें भिन्न-भिन्न अर्थोंमें हुआ है। यथा—'*झूठेहुँ हमहिं दोष जनि देहू।*' (२। २८। ३) '*सुनहु भरत हम झूठ न कहहीं।*' (२। २१०) '*झूठइ लेना झूठइ देना।*' (७। ३९) '*झूठो है झूठो है झूठो सदा जग संत कहंत जे अंत लहा है।*' (क० ७)

*'मृषा न कहउँ मोर यह बाना।'* (७। १६। ७) *छाँड़हु नाथ मृषा जल्पना।'* (६। ५६) *'मिथ्यारंभ दंभ रत जोई। ता कहँ संत कहहिं सब कोई॥'* (७। ९८) इत्यादि स्थलोंमें जहाँ जो अर्थ ठीक बैठता है वही लिया गया है।

इसी प्रकार *'झूठेउ सत्य जाहि बिनु जानें।'* (१।११२। १) में जो अर्थ ठीक बैठता है वह दिया गया। वहाँ 'सत्य' के प्रतिपक्षमें 'झूठ' शब्द दिया गया, उसीके अनुसार यहाँ भी *'सत्य इव'* कहनेसे इसके प्रतिपक्षमें 'झूठ' का ग्रहण होता है। सत्य इव भासती है अर्थात् सत्य नहीं है, झूठ है। इस 'झूठ' का अर्थ यहाँ परिवर्तनशील अर्थात् परिणामी, बदलनेवाला, अस्थिर। और 'सत्य' का अर्थ 'परिवर्तनरहित अर्थात् अपरिणामी, न बदलनेवाला, स्थिर' है।

माया अर्थात् मायाका कार्य जगत् झूठा है और श्रीरामजी सत्य हैं। जैसे जल ठंडा है और अग्नि उष्ण है। इस भेदको न जाननेवाले मनुष्यको यदि गर्म जल दिया जाय तो वह उसका उष्णता-धर्म जलका ही धर्म समझेगा, वैसे ही जगत् श्रीरामजीमें मिला हुआ है इसलिये कभी-कभी जगत्‌में सत्यत्वका अनुभव हो जाता है, यद्यपि वह सत्यत्व-धर्म श्रीरामजीका ही है। मोहवशात् इस भेदको और श्रीरामजीको न जाननेसे अज्ञानी जीव इस सत्यत्वको जगत्‌का ही मान बैठते हैं और उसमें फँसकर दुःख उठाते हैं।

*'झूठेउ सत्य जाहि बिनु जाने'* में श्रीरामजीको न जाननेसे झूठ सत्य जान पड़ता है यह बताया था और यहाँ बताते हैं कि श्रीरामजीकी सत्यतासे माया सत्य-सी जान पड़ती है। इन दोनों वाक्योंको विचार करनेसे यह बात सिद्ध होती है कि जगत्‌में भासमान सत्यत्व वस्तुतः श्रीरामजीका है, जब हम रामजीको जानेंगे तब हमें यह ज्ञान हो जायगा कि यह सत्यत्व श्रीरामजीका है।

पूर्व *'बिषय करन'* को सचेत और जगत्‌का प्रकाश करनेवाला कहा और यहाँ श्रीरामजीको *'मायाधीस'* कहा, उससे जान पड़ा कि माया अर्थात् विषयकरण और जगत् भी कोई एक सत्य वस्तु है जिसके अधीश श्रीरामजी हैं। उसके निराकरणार्थ कहते हैं कि *'जासु सत्यता तें जड़ माया। भास सत्य इव……।'* अर्थात् माया सत्य नहीं है, उसका सत्य-सा भासना श्रीरामजीकी सत्यतासे है।

जैसे **'यत्सत्त्वादमृषैव भाति सकलं……'**। इस प्रसङ्गकी कुछ बातें *'झूठेउ सत्य जाहि बिनु जाने।'* (११२। १) में कविने खोलीं, वैसे ही *'झूठेउ सत्य……'* की कुछ विशेष बातें यहाँ खोलते हैं।

*'झूठेउ सत्य'* से यह अर्थ होता है कि झूठा भी सत्य है। अथवा जो द्वैत-अद्वैत दोनोंको सत्य मानते हैं उनके मतानुसार 'झूठ भी है और सत्य भी है' ऐसा भी अर्थ होता है। अतः गोस्वामीजी अपना अभीष्ट अर्थ स्पष्ट करनेके लिये यहाँ *'भास सत्य इव'* पद देते हैं अर्थात् माया वस्तुतः सत्य नहीं है, किन्तु श्रीरामजीकी सत्यतासे सत्य भासित होती है।

*'बिषय करन सुर जीव समेता'* से लेकर यहाँतक तीन बातें दिखायीं। एक यह कि इन सबोंके सचेत करनेवाले श्रीरामजी हैं। दूसरे यह कि जगत्-मात्रको प्रकाशित करनेवाले (अर्थात् जिनके कारण हमें जगत् अनुभवमें आता है वह) भी श्रीरामजी ही हैं। तीसरे यह कि उनमें जो सत्यत्व भासता है वह भी श्रीरामजीके सत्यत्वसे ही भासता है। यथा—*'तस्य भासा सर्वमिदं विभाति।'* (मुण्डक० २। २। १०) जैसे 'रज्जु सर्प' के संचलन, भास, सत्यत्व आदि सब गुणधर्म उसके अधिष्ठान 'रज्जु' के ही हैं वैसे ही यह जगत् श्रीरामजीमें भासित होनेसे इस जगत्‌के चेतनत्व, भास और सत्यत्व सब गुणधर्म श्रीरामजीके ही हैं, यह बात उपर्युक्त प्रसङ्गसे जनायी है।

मा० पी० प्र० सं०—स्थूल शरीरकी सत्तासे नख और बाल बढ़ते हैं, यदि इन दोनोंको शरीरसे अलग कर दें तो स्थूल शरीरको किंचित् पीड़ा नहीं होती। इसी प्रकार ईश्वरकी सत्तासे जड़ मायामें सत्यकी प्रतीति होती है, उसके अलग हो जानेसे जीवको दुःख नहीं, वरन् सुख ही होता है। पुनः जैसे चुम्बक पत्थरकी सहायतासे लोहा (जड़ वस्तु) चैतन्य (चलता हुआ) जान पड़ता है, वैसे ही माया-मोहकी सहायतासे सत्य जान पड़ती है। (यह भाव अध्यात्मरामायणके आधारपर होगा। यह अद्वैत मत है।) अध्यात्मरामायण सर्ग १ श्लोक १८—२० में शिवजीके वचन इस प्रसङ्गपर ये हैं—**'सर्वान्तरस्थोऽपि निगूढ आत्मा स्वमाययासृष्टमिदं विचष्टे।**

**जगन्ति नित्यं परितो भ्रमन्ति यत्सन्निधौ चुम्बकलोहवद्धि॥ एतन्न जानन्ति विमूढचित्ता: स्वाविद्यया संवृतमानसा ये। स्वाज्ञानमप्यात्मनि शुद्धबुद्धे स्वारोपयन्तीह निरस्तमाये॥** अर्थात् प्रभु सब जीवोंके अंदर बसे हैं, परन्तु बहुत गुप्त हैं, अपनी मायासे रचे हुए इस संसारको देख रहे हैं। जगत् जड़ है तब भी उनके प्रभावसे नित्य ही इस प्रकार परिभ्रमण कर रहा है जैसे जड़ लोहा चुम्बक पत्थरके प्रभावसे। अर्थात् यह जो मायाका दृश्य है यह प्रभुकी सत्ताके कारण सत्य-सा देख पड़ता है। ऐसा न जानकर अपने मनपर अविद्यामायाका आवरण डाले हुए मूर्ख लोग अपने अज्ञानको आत्मरूप, शुद्ध-बुद्ध, मायासे परे प्रभुमें आरोपण करते हैं।

टिप्पणी—२ (क) *'जासु सत्यता तें जड़ माया'* इति। आगे इसीको दृष्टान्त देकर दिखाते हैं। झूठी मायाके सम्बन्धसे रामजी न देख पड़े, किन्तु असत्य मालूम हुए, यथा—***'गगन घनपटल निहारी। झाँपेउ भानु कहहिं कुबिचारी॥', 'मायाछन्न न देखिये जैसे निर्गुन ब्रह्म'।*** रामजी सत्य हैं; उनकी सत्यतासे झूठी माया सत्य जान पड़ी। (ख) जो असत्य और जड़ माया श्रीरामजीकी सत्तासे सत्य और चेतन भासती है—ऐसा कहनेसे यह पाया जाता कि सभीको माया सत्य प्रतीत होती है, इससे ***'मोह सहाया'*** पद दिया। भाव यह कि जिसको मोह है, उसीको माया सत्य भासती है, अन्यको नहीं। यथा—***'बदन हीन सो ग्रसइ चराचर पान करन जो जाहीं', 'जिमि अबिबेकी पुरुष सरीरहि।'*** (२। १४२) (मोह, अज्ञान, अविवेक पर्याय शब्द हैं। अविवेकी मनुष्य अपनेको देह समझकर देहके ही पालन-पोषणमें लगा रहता है। यदि मोह न होता तो वह देहको जड़, असत्य और अपनेको उससे भिन्न चेतन अमल सुखराशि जानता) जो मोहरहित ज्ञानी पुरुष हैं जैसे श्रीशुक-सनकादिकजी, उनको तो वह असत्य ही देख, समझ पड़ती है। (प्र० सं०) (ग) पुनः, यहाँ श्रीरामचन्द्रजी और माया दोनोंका प्राबल्य दिखा रहे हैं। श्रीरामजीमें इतनी सत्ता है कि असत्यको सत्य प्रतीत करा देते हैं और मायामें इतनी असत्यता है कि ऐसे ईश्वरको असत्य कर देती है। देखिये, गरुड़को मोहमें डाल दिया, यथा—***'ब्यापक ब्रह्म बिरज बागीसा। माया मोह पार परमीसा॥ सो अवतार सुनेउँ जग माहीं। देखेउँ सो प्रभाव कछु नाहीं॥……'*** । (७। ५८) इसी तरह सतीजीको, यथा—***'बहुरि राम मायहि सिर नावा। प्रेरि सतिहि जेहि झूठ कहावा॥'*** (प्र० सं०)

वि० त्रि०-माया अघटित-घटना-पटीयसी है। उसके अधीश बनकर सगुण हुए। मिथ्या माया जड़ है। उसमें प्रकाशन-शक्ति नहीं है। परिच्छेदके अवभासको अनात्मभास कहते हैं, वही अविद्या, जड़ शक्ति, शून्य या प्रकृति कहलाता है। ब्रह्म चेतन है, उसकी सत्यतासे जड़ माया (संसार), मोह (अज्ञान) की सहायतासे सत्य-सी मालूम होती है। भाव यह कि श्रीरामजीमें जो 'विरह विकलतादि' तुमने देखा वह माया थी, सत्य नहीं था। जब रामजीमें सारा संसार बिना हुए दिखायी पड़ता है तो उतना विरह विकलतादिका बिना हुए दिखायी पड़ना कौन-सी बड़ी बात थी। तुम्हारे अज्ञानकी सहायतासे वह सब सत्य दिखायी पड़ा।

**दोहा—रजत सीप महुँ भास जिमि जथा भानुकर बारि।**
**जदपि मृषा तिहुँ काल सोइ भ्रम न सकै कोउ टारि॥ ११७॥**

शब्दार्थ—**रजत**=चाँदी। भास (सं०)=भासती है=चमकती है; प्रतीत होती है। भास (संज्ञा)=प्रतीति। भानुकर=भानु (सूर्य) कर (किरण)। **भानुकर बारि**—(१। ४३। ८) *'तृषित निरखि रबिकर भव बारी……'* में देखिये। **मृषा**=अयथार्थ ज्ञानका विषय, धोखा देनेवाला। **टारना**=हटाना।

अर्थ—जैसे सीपमें (व्यवहारात्मिका) रजतका भास और जैसे सूर्यकिरणमें (व्यवहारात्मक) जलका भास, यद्यपि ये (व्यवहारात्मिक रजत और व्यवहारात्मक जल दोनों) तीनों कालों (भूत, भविष्य, वर्तमान) में मिथ्या हैं (तथापि) इस 'भ्रम' को कोई हटा नहीं सकता। (भाव कि भ्रम हो जाता ही है)॥ ११७॥

टिप्पणी—१ जैसे सीपमें चाँदीका भास होता है और सूर्यकिरणमें जलका, वैसे ही श्रीरामजीकी सत्यतामें माया सत्य भासती है। (पिछली चौपाई *'जासु सत्यता ते जड़ माया। भास सत्य इव मोह सहाया॥'* में

जो कहा उसीका दृष्टान्त इस दोहेमें दे रहे हैं। वहाँ मायाका स्वरूप कहा, यहाँ उसका दृष्टान्त दिया।) सीप सत्य है, (उसमें) चाँदी (का भास) झूठ है। सूर्यकिरण सत्य है, (उसमें) जल (का भास) झूठ है। ऐसे ही श्रीरामजी सत्य हैं, माया झूठी है।

टिप्पणी—२ यहाँ दो दृष्टान्त दिये हैं—सीपमें चाँदीका भ्रम और रविकिरणमें जलका भ्रम। दो दृष्टान्त इसलिये दिये कि श्रीरामजीके दो रूप हैं, एक निर्गुण दूसरा सगुण। (इन्हीं दोका प्रसंग यहाँ चला जा रहा है।) दो रूप, यथा—'*जय राम रूप अनूप निर्गुन सगुन गुनप्रेरक सही।*' सगुण स्थूल है, इससे सगुण रूपके दृष्टान्तमें 'सीप' को कहा, क्योंकि 'सीप' स्थूल है। निर्गुणरूप सूक्ष्म है; उसके लिये रविकिरणका दृष्टान्त दिया, क्योंकि सूर्यकिरण भी सूक्ष्म है। अथवा, जो दृष्टान्त मायाके लिये दिया, वही आगे जगत्के लिये देते हैं; इसीसे यहाँ दो दृष्टान्त दिये—एक मायाके लिये, दूसरा जगत्के लिये। [पुनः ऐसा भी कह सकते हैं कि रज्जुसर्प अँधेरेका दृष्टान्त है और रजत-सीप तथा मृगजल पूर्ण प्रकाशके दृष्टान्त हैं जिनमेंसे एक निकटका और दूसरा दूरका है।]

नोट—१ समन्वय-सिद्धान्तानुसार 'मृषा' शब्दका अर्थ 'अयथार्थ ज्ञानका विषय, धोखा देनेवाला, परिवर्तनशील इत्यादि ही माना जाता है, जैसा कि '*झूठेउ सत्य*' की व्याख्यामें लिख आये हैं। '*तिहु काल*' का भाव कि यह आजहीका ऐसा नहीं है, भूतकालमें भी ऐसा ही था और आगे भी ऐसा ही 'मृषा' रहेगा। '*भ्रम न सकइ कोउ टारि*' का भाव कि यह जानते हुए भी कि शुक्ति-रजत और मृगजल सदा ऐसा ही धोखा देते हैं तब भी इनके धोखेमें लोग आ जाते हैं। '*जदपि*' कहकर इसमें यह विलक्षणता दिखायी।

इस सिद्धान्तानुसार शुक्ति-रजत और मृगजल दोनों हैं और सदा अपने अधिष्ठानमें, अर्थात् रजत-शुक्तिमें और जल सूर्यकिरणमें स्थित हैं। इसका समर्थन '*झूठेउ सत्य जाहि बिनु जाने। जिमि भुजंग बिनु रजु पहिचाने॥*' (११२। १) में किया जा चुका है। एक समाधान और यह भी है कि नैयायिकोंने चाँदीको तेज माना है और शुक्ति पृथ्वीतत्त्व है। पञ्चीकरणके अनुसार पृथ्वीमें तेजका अष्टमांश है। अतः शुक्तिमेंके पृथ्वीतत्त्वका अंश आच्छादित होनेसे उसमें स्थित तेजस्तत्त्वका अनुभव होता है। तब उसमें चाँदीका भास होता है। इसी प्रकार सूर्यकिरण तेज है और पञ्चीकरणानुसार तेजमें जलतत्त्वका अष्टमांश है। जब तेजस्तत्त्वका आच्छादन होता है तब किरणोंमें जलतत्त्वका भास होता है। [श्रीरामानुजाचार्यस्वामी, स्वामी श्रीरामानन्दाचार्यजी और श्रीप्रभाकरजी आदि वेदवेत्ताओंका यह निश्चित सिद्धान्त है कि सम्पूर्ण ज्ञान सत्य है—**यथार्थं सर्वविज्ञानमिति वेदविदां मतम्।**' (श्रीभाष्य) और श्रुति-स्मृतियोंमें भी त्रिवृत्करण, पञ्चीकरण और सप्तीकरण आदिसे सीपमें रजतकी तथा रविकिरणमें जलकी नित्य सत्यता समझायी गयी है। रज्जुमें सर्पका, सीपमें रजतका तथा रविकिरणमें जलका भ्रम उसकी स्वल्पसत्ताका प्रत्यायक है। जहाँपर जिसकी सत्ता स्वल्पमात्र भी नहीं रहती, वहाँ उसका भ्रम नहीं होता। जैसे सीपके ही पृष्ठभागपर अथवा तमालपत्रादिमें रजतका भान नहीं होता; क्योंकि वहाँ रजतकी स्वल्प सत्ता भी नहीं है। (वे० भू०)]

इसपर यह शङ्का हो सकती है कि इस सिद्धान्तके अनुसार जब शुक्तिमें रजत और सूर्यकिरणमें जल सूक्ष्मरूपसे है ही तब उसके ज्ञानको 'भ्रम' क्यों कहा गया? इसका समाधान यह है कि उसके ज्ञानको यहाँ 'भ्रम' नहीं कहा गया, किंतु वह वस्तुतः 'मृषा' अर्थात् अयथार्थ ज्ञानका विषय, अस्थिर और परिवर्तनशील है तथापि हम उसे यथार्थ ज्ञानका विषय, स्थिर और परिवर्तनरहित समझते हैं; यही 'भ्रम' है।

नोट—२ बाबा जयरामदासजी—'*जासु सत्यता ते जड़ माया*……' यह चौपाई अद्वैतमतके समर्थनमें उद्धृत की जाती है। यहाँ यह कहा जाता है कि मायाको असत्य कहा गया है, अतः यह अद्वैतवाद है। परंतु इसके ऊपरकी चौपाई देखिये—'*जगत प्रकास्य प्रकासक रामू। मायाधीस ग्यान गुनधामू॥*' इसमें श्रीरामजीको मायाधीश कहकर स्पष्ट मायावाद सूचित किया गया है तथा जगत् शब्द जड़ मायाके पर्यायवाची शब्दके रूपमें

व्यवहृत हुआ है। दोहेके नीचेकी चौपाई *'एहि बिधि जग हरि आश्रित रहई। जदपि असत्य देत दुख अहई॥'* में भी जगत्‌का भासना ही असत्य कहा गया है; क्योंकि यहाँ भी वही स्वप्नकी उपमा दी गयी है; यथा—*'जौं सपने सिर काटै कोई। बिनु जागें न दूरि दुख होई॥'* और इस भ्रमका हटना सिवा रामकृपाके और किसी साधनसे सम्भव नहीं है—*'जासु कृपा अस भ्रम मिटि जाई। गिरिजा सोइ कृपाल रघुराई॥'* यद्यपि यह भ्रम तीनों कालमें मिथ्या है, अर्थात् यह जगत् तीनों कालमें रामरूपके अतिरिक्त और कुछ नहीं है, फिर भी उस भ्रमको कोई भी अपने पुरुषार्थसे हटानेमें समर्थ नहीं है जैसा कि *'रजत सीप महँ भास जिमि जथा भानुकरबारि। जदपि मृषा तिहुँ काल सोइ भ्रम न सकइ कोउ टारि॥'* इस दोहेमें कहा है। यहाँ *'रजतसीप'* की उपमासे 'विद्यामाया' और *'भानुकरबारि'* की उपमासे अविद्यामायाको सूचित किया गया है; क्योंकि विद्यामाया—*'एक रचइ जग गुन बस जाके'* दुःखद नहीं है, परंतु वह नानारूप-जगत्‌को भासित कराकर, पर्दा-सा डालकर भ्रम उत्पन्न करती है और दूसरी अविद्यामाया मृगतृष्णाकी भाँति 'मैं', 'मोर', 'तैं', 'तोर' बन्धनवाली दुःखरूपा है, यथा—*'एक दुष्ट अतिसय दुखरूपा। जा बस जीव परा भवकूपा॥'*

इन दोनों प्रकारकी मायाओंसे युक्त जगत् न कभी पहले भूतकालमें ही रामरूपको छोड़कर वस्तुतः इस नानारूपमें था, न अब वर्तमानकालमें ही है और न आगे कभी भविष्यमें ही इसका यह नानात्व वास्तविक होगा; तीनों कालोंमें यह जगत् भगवत्स्वरूप ही सत्य है। इसीसे कहा गया है—*'एहि बिधि जग'* अर्थात् इस प्रकारका यह जगत् जो *'हरि आश्रित रहई'* अर्थात् जिसके आश्रय केवल श्रीरामजी ही हैं, जिनका यह विश्वरूप है—*'बिश्वरूप रघुबंसमनि करहु बचन बिश्वास।'* अतएव यहाँ भी माया या जगत्‌को मिथ्या न कहकर उसके नानात्व भ्रमको ही मिथ्या कहा गया है, जो भ्रम श्रीरामकृपासे ही मिटता है। भ्रम मिटनेपर जीवको यह संसार श्रीरामरूप भासने लगता है तथा वह भ्रमजनित दुःखसे मुक्त होकर सुखी हो जाता है। इसलिये यहाँ भी अद्वैतवादसे कोई सम्बन्ध नहीं है। (मानसरहस्य)

नोट—३ वे० भू०—वेदान्तप्रकरणमें गोस्वामीजी 'असत्य' और 'जड़' शब्दोंको पर्यायवाची तथा 'सत्य' और 'चेतन' शब्दोंको पर्यायवाची मानते हैं *। यह निम्न चौपाई और विनयके पदसे स्पष्ट हो जाता है—*'जासु सत्यता ते जड़ माया। भास सत्य इव मोह सहाया॥'* अर्थात् जिस ब्रह्मकी चैतन्यतासे सहायक भूत अपने कार्य मोहके सहित जड़ माया भी चैतन्य भासित होती है, वह दयालु ब्रह्म रघुकुलावतीर्ण श्रीरामजी ही हैं। यदि यहाँ *'सत्य इव'* का *'चैतन्य इव'* अर्थ न किया जायगा तो 'जड़' शब्दकी कोई गति ही नहीं रह जाती। अतएव 'जड़' शब्दके साहचर्यसे मायामें सत्यका अर्थ चैतन्य और 'असत्य' का अर्थ जड़ मानना नितान्त आवश्यक है।† मायाको मिथ्या माननेको तो ग्रन्थकार ही विनयपत्रिका और कवितावलीमें मना कर रहे हैं। यथा *'जौं जग मृषा तापत्रय अनुभव होत कहहु केहि लेखे?* ‡*'झूठो है झूठो है झूठो*

---

* परंतु गोस्वामीजीने इस ग्रन्थमें श्रीरामजीको सत् (सत्य चित्) (चेतन) एक साथ ही अनेक बार कहा है। यथा 'ब्यापक एक ब्रह्म अबिनासी। सत चेतनघन आनँद रासी॥' (१। २३। ६) 'राम सच्चिदानंद दिनेसा॥' (१। ११६। ५) 'सोइ सच्चिदानंदघन ... ॥' (७। २५) इत्यादि। यदि सत्य और चेतन पर्याय होते तो क्या इस प्रकार एक साथ इनका प्रयोग हो सकता है? (श्रीगंगाधर ब्रह्मचारीजी)

† परंतु इसपर शङ्का होती है कि यहाँ जड़ शब्द एक बार और सत्य शब्द दो बार आया है। अतः विशेष होनेसे सत्य शब्दकी प्रतियोगितामें जड़का अर्थ मिथ्या क्यों न किया जाय? जैसा कि आगेके दोहा 'जदपि मृषा तिहुँ काल' में स्पष्ट कहा ही है, इसी प्रकार अन्यत्र भी 'असत्य' मिथ्या आदि शब्दोंका प्रयोग किया ही है। वहाँ भी क्या ऐसी ही खींचातानी करके अर्थ किया जाय जो सर्वथा अनुचित है। (श्रीगंगाधर ब्रह्मचारीजी)।

‡ वस्तुतः यहाँ लोगोंका तर्क-वितर्क है कि यदि जगको झूठ कहें तो दुःखका अनुभव किस प्रकार हो सकता है? इसके आगे कहते हैं कि 'कहि न जाइ मृगबारि सत्य भ्रमतें दुख होइ बिसेषें॥' अर्थात् (सूर्यकी किरणोंसे) जो मृगजलका भ्रम होता है उससे भी बहुत दुःख होता है, परंतु उसको सत्य नहीं कहा जाता। अन्तमें 'तुलसीदास सब बिधि प्रपञ्च जग जदपि झूठि श्रुति गावै' इस प्रकार स्पष्ट शब्दोंमें जगत्‌को झूठ कहा और अपने सिद्धान्तको श्रुतिकी सम्मति भी बताया। (श्रीगंगाधर ब्रह्मचारीजी)

*सदा जग संत कहंत जे अंत लहा है। ताको सहै सठ संकट कोटिक काढ़त दंत करंत हहा है। जानपनीको गुमान बड़ो तुलसीके बिचार गँवार महा है।'* (क०) अद्वैतसिद्धान्त प्रातिभासिक, व्यावहारिक और पारमार्थिक तीन सत्ताओंको मानता है। गोस्वामीजीने इनको कहीं भी स्पष्ट न लिखकर अद्वैतसिद्धान्तोंको भ्रमात्मक माना है यथा—*'कोइ कह सत्य झूठ कह कोऊ जुगल प्रबल करि मानै। तुलसिदास परिहरै तीनि भ्रम सो आपनु पहिचानै॥'* भाव यह है कि प्रकृतिको सत्य कहनेवाले सांख्यवादको, असत्य माननेवाले अद्वैतवादको और दोनों सिद्धान्तोंको प्रबल माननेवाले द्वैताद्वैत (भेदाभेद) वादके सिद्धान्तोंको भ्रमात्मक* कहते हुए परित्याग करनेके लिये बतलाया गया है।

कोई-कोई समझते हैं कि रजत-सीप आदि दृष्टान्त केवल अद्वैतवादियोंके ही हैं। ऐसा मानना सर्वथा भूल है, क्योंकि इन्हीं दृष्टान्तोंको सभी दार्शनिकोंने अपने-अपने पक्षके समर्थनमें अर्थान्तरसे दिया है।

इसी तरह रज्जु-सर्प और भानुकरवारि आदिके दृष्टान्तोंको भी समझना चाहिये।

इस दोहेसे अद्वैतवाद कभी भी सिद्ध नहीं हो सकता क्योंकि अध्यास तो बिना तीनके बन ही नहीं सकता। एक तो अधिष्ठान (आधार) जिसमें कि किसी दूसरी वस्तुका आरोप होता हो। दूसरा वह पदार्थ जिसकी कल्पना अधिष्ठानमें की जाय। तीसरा वह (अधिष्ठाता) जो कि अज्ञानसे दूसरेमें दूसरेका आरोप करे। जैसे कि दृष्टान्तमें १—अधिष्ठान=सीपी, रविकिरण और रज्जु आदि। २—कल्पित पदार्थ रजत, जल और सर्पादि। ३—अधिष्ठाता=कल्पना करनेवाला अज्ञानी व्यक्ति। क्योंकि सीपी रविकिरण और रज्जु आदिको तो यह भाव हो ही नहीं सकता कि मुझमें चाँदी, जल और सर्पादिका आरोप हुआ है। इसी प्रकार चाँदी आदिको भी यह अनुमान नहीं हो सकता कि मैं सीपी आदिमें अध्यस्त हूँ। यह भास तो उसे होगा जो अधिष्ठान सीपी आदि तथा अध्यस्त रजत आदिसे सर्वथा भिन्न कोई एक तीसरा ही हो। उसी तरह, अधिष्ठानपदार्थ ब्रह्म १, अध्यस्त पदार्थ जगत् २, और अधिष्ठाता (अध्यास करनेवाला) अज्ञानी ३, होने चाहिये। बिना इन तीनोंके अध्यासवाद बन ही नहीं सकता और जब तीनों नित्य (अनादि) होंगे तभी स्वामी शंकराचार्यजीके बतलाये '**एवमनादिरनन्तो नैसर्गिकोऽयमध्यासः**' इस सिद्धान्तके अनुसार यह अध्यासवाद सिद्ध होगा।†

---

* इस कथनसे तो प्रायः सब आचार्योंके सिद्धान्तोंको भ्रमात्मक कहना पड़ेगा, क्योंकि कुछ लोग (बौद्धादि) जगत्‌को असत्य मानते हैं, कुछ (विशिष्टाद्वैती, द्वैती तथा सर्वसाधारण लोग) इसको सत्य मानते हैं और कुछ (निंबादित्यानुयायी) सत्यासत्य मानते हैं। अतः उपर्युक्त कथनानुसार ये सब सिद्धान्त भ्रमात्मक मानने पड़ेंगे। श्रीस्वामी शंकराचार्यजीके अनुयायी (अद्वैती) जगत्‌को न सत्य मानते हैं न असत्य, किंतु सदसद्विलक्षण अर्थात् अनिर्वचनीय मानते हैं, अतः गोस्वामीजीके विचारसे यही एक सिद्धान्त भ्रमरहित है, (ध्यान रहे कि अद्वैत मतमें मिथ्या, मृषा, असत्य आदि शब्दोंका तात्पर्य 'अनिर्वचनीय' ही है।) दूसरोंको क्या कहें खास गोस्वामीजीने ही अपने ग्रन्थोंमें इन शब्दोंका प्रयोग विशेषरूपसे किया है जैसा कि अद्वैतियोंको छोड़कर अन्य कोई प्रायः नहीं करता, तो क्या गोस्वामीजी अपने ही कथनको भ्रम कहेंगे, मेरे विचारसे तो गोस्वामीजीके इस कथनका तात्पर्य यह है कि 'जगत्‌के सत्य मिथ्याविषयक वादविवादसे जीवका उद्धार न होगा; अतः इस व्यर्थ झगड़ेको छोड़कर आत्मज्ञान कर लेना चाहिये, इसीसे ही जीवका उद्धार होगा (ध्यान रहे कि यहाँपर 'सो आपनु पहिचानै' कहा है, अपनेको जाननेसे मोक्ष कहनेवाले अद्वैती ही हैं)। (पं० रूपनारायण मिश्र)

† वस्तुतः अद्वैतसिद्धान्तानुसार ब्रह्मको छोड़कर अन्य जीव अथवा जगत् कोई पदार्थ है ही नहीं, परंतु यह बात पामर जीवोंके समझमें सहसा नहीं आती। अतः उनको समझानेके लिये शास्त्रमें कहा गया है कि जैसे रज्जुपर सर्प भासता है वैसा ही ब्रह्मपर जगत् भासता है। तात्पर्य प्रातिभासिक सत्ता और व्यावहारिक सत्ता मानकर ही यह सब कथन है। पारमार्थिक सत्तामें तो 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म' वा 'अहं ब्रह्माऽस्मि' इत्यादि कथनको भी स्थान नहीं है, ठीक ही है जब कि ब्रह्मके अतिरिक्त अन्य कुछ है नहीं तब किसको किसका अध्यास होगा! परंतु यह तत्त्व न समझनेसे ही अनेक शंकाएँ उठती हैं। उनका समाधान भी किया जाता है जिसपर लोग और तर्क-वितर्क करने लगते हैं; जैसे श्रीरामजीका श्रीजानकीजीसे कदापि वियोग नहीं होता तथापि लीलाके अनुसार दोनोंका वियोग, उससे दोनोंको शोक, पुनर्मिलन फिर हर्ष इत्यादि पुराणादिमें वर्णित है; जिसको लेकर अज्ञानी जीव उसपर तर्क-वितर्क करने लगते हैं, उन्हीं लोगोंके विषयमें

नोट—४ श्रीबैजनाथजी लिखते हैं कि 'अपने स्थानमें चाँदी और जल सच्चे हैं। उसी सचाईसे सीपमें चाँदीकी प्रभा दिखायी देती है और रविकिरणमें जलकी। सीपमें चाँदीका प्रकाशमात्र है, स्थूल सीप ही है, उसको चाँदी मानना भ्रम है; तथा रविकिरणमें जलका प्रकाशमात्र है। स्थूल किरण ही है, उसको जल मानना भ्रम है। वैसे ही संसारमें ईश्वरका प्रकाशमात्र है, स्थूल पाञ्चभौतिक है यथा स्त्री, पुत्र आदि यावत् देह-व्यवहार है, उसको सच्चा मानना भ्रम है। यद्यपि देह-व्यवहार तीनों कालमें वृथा है तो भी उसमें सचाईका भ्रम मिटता नहीं।'

नोट—५ अद्वैतसिद्धान्तके अनुसार दोहेका भाव यह है कि जगदुत्पत्तिके पूर्व यह जगत् नहीं था अथवा प्रलयके बाद नहीं रहेगा, यह बात सर्वसाधारणकी बुद्धिमें आ जाती है परंतु जब कि प्रत्यक्ष जगत्का अनुभव हो रहा है और उससे सुख-दुःख प्राप्त होता है, अतः अनुभवकालमें तो यह अवश्य है, ऐसा ही सर्वसाधारणलोग समझते हैं। परंतु इस सिद्धान्तमें चराचर जगत् न तो प्रथम था, न इस समय है और न आगे होगा। गोस्वामीजी दो दृष्टान्त देकर इसी सिद्धान्तका प्रतिपादन यहाँ कर रहे हैं।

रज्जुसर्पके दृष्टान्त पूर्व दिये गये। उसपर कदाचित् कहा जाय कि सर्प चेतन होनेसे, हल्ला-गुल्ला करनेसे भाग गया होगा वस्तुतः वह सर्प ही था, रस्सी न थी, अतः रस्सीमें सर्पका भ्रम होना सिद्ध नहीं होता, अतएव शुक्ति (सीप) रजतका दृष्टान्त देते हैं। रजत समझकर जब उसको उठाया तब हाथमें सीप आयी तब ध्यानमें आ जाता है कि जिसको हम रजत समझते थे वह रजत नहीं है, सीप है। अतः सिद्ध हुआ कि सीप अनुभवकालमें रजत न था, अब भी नहीं है; अतएव आगे भी नहीं होगा। इस प्रकार तीनों कालमें उसका मृषात्व सिद्ध हो गया।

कुछ दार्शनिक रज्जु-सर्प, शुक्ति (सीप)—रजत, और मृगजल आदिको सत्य अर्थात् तीनों कालोंमें विद्यमान मानते हैं, अतः गोस्वामीजी अपना मत स्पष्ट शब्दोंमें लिखते हैं कि ये तीनों कालोंमें मृषा हैं।

प० प० प्र०—*'रजत सीप'''''* इति। इन दृष्टान्तोंसे जनाते हैं कि जगत्‌की प्रातिभासिक सत्ताका नाश भी जीवके अधीन नहीं है। व्यवहारकालमें व्यावहारिक सत्ताका नाश भी जीवके प्रयत्नसे नहीं होता है। भ्रमाधिष्ठान सीप और भानुकरको जान लेनेपर भी उस ज्ञानीकी इन्द्रियोंको विशिष्ट परिस्थितिमें शुक्तिमें रजत और भानुकरमें जलका आभास तो होगा ही, पर वे त्रिकालमें सत्य नहीं हैं यह जाननेवाला उनसे सुख प्राप्तिकी आशा कभी करेगा ही नहीं। इस विश्वकी पारमार्थिक सत्यता सत्ता नहीं है। यह प्रपञ्च *'मोहमूल परमारथ नाहीं'* यह लक्ष्मणगीतामें कहा ही है। जीवन्मुक्तावस्थामें भी विश्वकी प्रातिभासिक और व्यावहारिक सत्ता नष्ट नहीं होती है। केवल निर्विकल्प समाधि-अवस्थामें विश्व नहीं रह जाता।

दो दृष्टान्त साभिप्राय हैं। इन दो दृष्टान्तोंसे केवलाद्वैतसम्प्रदायके दो मतोंका दिग्दर्शन कराया है। शुक्तिका रजतमें शुक्तिका उपादान कारण है और सूर्यकिरणोंकी विशिष्ट परिस्थिति निमित्त कारण है। एक पक्ष मायाधिष्ठान ब्रह्मको निमित्त और मायाको उपादान कारण मानता है। जल-बीचि, कनक-कंकण दृष्टान्त भी इस मतके ही निदर्शक हैं। दूसरे दृष्टान्तमें भानुकर उपादान है और भूमिकी विशिष्ट परिस्थिति निमित्त कारण है। (यह दूसरा पक्ष है जो) ब्रह्मको उपादान और मायाको निमित्त मानता है। इन दो दृष्टान्तोंमें सूर्यस्थानीय ब्रह्म है, एकमें सूर्य उपादान है और एकमें निमित्त। भागवतटीकाकार श्रीधर ब्रह्मको उपादान और मायाको निमित्त मानते हैं तथा बहुत-से ज्ञानोत्तरभक्तिमार्गीय केवलाद्वैती सन्तोंका भी यही मत है। शङ्करानन्दादि ब्रह्मको निमित्त और मायाको उपादान मानते हैं पर दोनोंमें अभेद होनेसे कोई हानि नहीं है। ब्रह्मको उपादान माननेवाले परिणामवादका अंगीकार नहीं करते।—देखिये श्रीमद्भागवतकी वेदस्तुति '**न घटत उद्भवः प्रकृतिपूरुषयोरजयोः''''''**।' (भा० १०। ८७। ३१)। की श्रीधरी टीका।

---

बालकाण्डमें श्रीपार्वतीजीके प्रश्नपर दोहा ११४ से ११८ तक कहा गया है। मेरे विचारसे श्रीगोस्वामीजीने इस भक्तिप्रधान ग्रन्थमें चरित्रको ही प्राधान्य दिया है तथापि अन्य विषय और दार्शनिक तत्त्व-विचार भी यत्र-तत्र संक्षेपसे दिये हैं। ऐसे स्थलोंपर अपने सम्प्रदायके सिद्धान्तानुसार ग्रन्थकी संगति लगानेभरका यत्न करना चाहिये, अन्य सिद्धान्तके खण्डनमें समय न देना ही अच्छा। (पं० रूपनारायण मिश्र)

वि० त्रि०—सीपमें रजत तीन कालमें असत्य है। सीपोंकी सत्यतासे उसमें सत्यताकी प्रतीति होती है। सीपीका इदमंश रजतमें प्रतीत होता है और सीपीका नील-पृष्ठ त्रिकोणादिरूप तिरोहित रहता है। इसी भाँति परमात्मामें इस मिथ्या जगत्‌की प्रतीति होती है। असंग आनन्दादि गुण तिरोहित हो जाते हैं और रजतकी भाँति जगत् भासित होने लगता है। यह हुआ मन्द अन्धकारका भ्रम। अब प्रकाशका भ्रम कहते हैं। जेठकी दुपहरियामें जलका भ्रम होता है। वह जल तीनों कालोंमें असत्य है, पर दिखलायी पड़ता है। ज्ञानसे भ्रमकी निवृत्तिमात्र होती है, संसार-दर्शनकी निवृत्ति नहीं होती, वह तो उसी भाँति भासित होता रहता है।'*भ्रम न सकै कोउ टारि*' का यही अभिप्राय है कि असत्य प्रतीतिके बाद भी उसका दिखायी देना नहीं बंद होता। उसी भ्रमको कोई टाल नहीं सकता। संसार-भ्रम क्या टलेगा ?

टिप्पणी—३ (क) '*तिहुँ काल*' का भाव कि श्रीरामजी तीनों कालोंमें हैं, माया उनके आश्रित है, इससे वह भी तीनों कालोंमें है। यथा—'*बिधि प्रपंच अस अचल अनादी।*' (ख) '*भ्रम न सकै कोउ टारि*'— मृषा होते हुए भी सत्य ऐसा भासता है इस भ्रमको कोई हटा नहीं सकता। अर्थात् भ्रमको दूरकर मायाको छोड़ देना शक्तिसे बाहर है, यथा—'*सो दासी रघुबीरकी समझें मिथ्या सोपि। छूट न रामकृपा बिनु नाथ कहउँ पद रोपि॥*' ☞छूट नहीं सकती तब आखिर जनक, शुकदेव आदि मायासे छूटे कैसे? अपनी शक्तिसे नहीं किंतु रामकृपासे। रामकृपासे ही यह भ्रम मिटता है। यही आगे कहते हैं,'*जासु कृपा अस भ्रम मिटि जाई।*' पुनः, [(ग) यहाँ '*कोउ*' का अर्थ है स्वयं वह अथवा दूसरा कोई अथवा जिस अधिष्ठानपर भ्रम हुआ है जबतक उसका ज्ञान नहीं होगा तबतक कोई नहीं टाल सकता। इसीसे श्रीरामजीको जाने बिना उनमें जो जगत्‌का भास होता है उसे कोई टाल नहीं सकता। (घ) '*कोउ न सकै*' का यह भी भाव है कि टारनेका प्रयत्न तो बहुत करते हैं; योग, जप, तप, यज्ञ आदि अनेक साधन करते हैं, परंतु इनके द्वारा छूटना तो दूर रहा और अधिक भ्रममें फँसता जाता है।]

नोट—६ पंजाबीजी लिखते हैं कि 'सीपमें चाँदी सीपके अज्ञान (ज्ञान न होने) से और रेतका ज्ञान न होनेसे रविकिरणके विषय मृगतृष्णाका जल दृष्टिमें आता है। ये कल्पित पदार्थ असत्य हैं, पर उस समय असत्य नहीं भासते', इसीसे '*न सकै कोउ टारि*' कहा।

**एहि बिधि जग हरि आश्रित[१] रहई। जदपि असत्य देत दुख अहई॥ १॥**
**जौं सपने सिर काटै कोई। बिनु जागें न दूरि दुख होई॥ २॥**
**जासु कृपा अस भ्रम मिटि जाई। गिरिजा सोइ कृपाल रघुराई॥ ३॥**

शब्दार्थ—**आश्रित**=ठहरा हुआ, सहारेपर टिका हुआ, अधीन।

अर्थ—इसी प्रकार जगत् भगवान्‌के आश्रित रहता है, यद्यपि वह असत्य (परिवर्तनशील) है तो भी दुःख देता है॥ १॥ जैसे, यदि स्वप्नमें कोई सिर काटे तो बिना जागे उसका दुःख दूर नहीं होता॥ २॥ हे गिरिजे! जिसकी कृपासे ऐसा भ्रम मिट जाता है वही कृपालु श्रीरघुनाथजी हैं॥ ३॥

नोट—१ (क) दोहा (११७। ८)'*जासु सत्यता तें जड़ माया।*......' में मायाका स्वरूप कहा और यहाँ (११८। १) में जगत्‌का स्वरूप बताया। इन दोनोंके बीचमें दोहा ११७ '*रजत सीप*......' को देकर दोहेको दीपदेहलीन्यायसे दोनों ओर सूचित किया। अर्थात् माया और जगत् दोनोंका एक ही स्वरूप है यह जनाया। (ख)'*एहि बिधि*' अर्थात् जिस विधि सीपीके आश्रित चाँदी और रविकिरणके आश्रित जल इसी प्रकार हरिके आश्रित जगत् है। अर्थात् उनकी सत्तासे जगत् सत्य (अपरिणामी) प्रतीत होता है। (ग) '*एहि बिधि*......' का तात्पर्य यह है कि शुक्ति-रजत और मृगजल-शुक्ति और सूर्यकिरणके आधारपर ही भासते हैं। वैसे ही जगत् भी श्रीरामजीके आधारपर भासता है।'*एहि बिधि*' से इन्हीं दोका बोध होता है न कि मायाका। मायाका स्वतन्त्र अनुभव है नहीं, जगत् आदि कार्यरूपसे ही

१. आसृत—१६६१।

उसका अनुभव होता है। अतः दोनोंमें अभेद मानकर ही यत्र-तत्र इन शब्दोंका प्रयोग किया जाता है। (घ) '*एहि बिधि*' से जाना गया कि जैसे शुक्तिरजत, मृगजल, रज्जुसर्प आदि तीनों कालमें नहीं हैं वैसे ही जगत् पहले नहीं था, अभी नहीं है और न आगे रहेगा। इसपर यदि कोई कहे कि 'जब यह असत्य ही है तो फिर उसकी चिन्ताकी क्या आवश्यकता, उससे कोई हानि नहीं होगी?' तो उसपर कहते हैं कि यद्यपि यह असत्य है तथापि दुःख देता है, अतः उसके (भ्रमके) निवृत्तिका उपाय करना चाहिये। यहाँ शंका हो सकती है कि 'ब्रह्म सत्य है तब उसका आश्रित जगत् असत्य कैसे हो सकता है।' समाधान—जैसे ब्रह्म चेतन है परंतु उसका आश्रित जगत् जड़ है। ब्रह्म आनन्दघन है परंतु जगत् दुखदायी है, वैसे ही सत्य ब्रह्मका आश्रित जगत् असत्य हो सकता है।

टिप्पणी—१ (क) '*एहि बिधि*' अर्थात् जैसे माया हरिके आश्रित है वैसे ही जगत् भी हरिके आश्रित है। (ख) जो दृष्टान्त मायाके सम्बन्धमें दिया वही दृष्टान्त जगत्‌में देनेका तात्पर्य यह है कि माया और जगत् दोनों एक हैं। माया जगत्‌की उपादान कारण है, कार्य और कारण अभिन्न हैं जैसे मृत्तिका और घट*। भगवान्‌ने स्वयं कहा है—'*गो गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानेहु भाई॥*' जगत् मायामय है। (ग) '*जदपि असत्य देत दुख अहई।*' 'यद्यपि असत्य है तो भी दुःख देता है; यह सत्य है' तब शंका होती है कि असत्यका दुःख देना कैसे सत्य माना जाय? इसीपर शंकानिवारणार्थ दृष्टान्त देते हैं—'*जौं सपने सिर काटै कोई*……'। ☞ यहाँ दिखाया कि माया और जगत्‌का स्वरूप एक ही है। माया असत्य है—'*जदपि मृषा तिहुँ*……' जगत् असत्य है—'*जदपि असत्य*……' माया हरिके आश्रित,—'*जासु सत्यता तें जड़*……', *जग हरि आश्रित*— '*एहि बिधि जग*……' माया भ्रमरूप है,—'*भ्रम न सकै कोउ टारि*' जगत् भ्रमरूप,—'*जासु कृपा अस भ्रम*'।

टिप्पणी—२ '**अहो विकल्पितं विश्वमज्ञानान्मयि भासते। रूप्यं शुक्तौ फणी रज्जौ वारि सूर्यकरे यथा॥**' इति अष्टावक्रवेदान्ते। अष्टावक्रजी कहते हैं कि हमको अज्ञानके कारण यह जगत् सीपमें चाँदी, सूर्यकिरणमें जल और रस्सीमें सर्पकी नाईं भासता है। ये ही तीनों दृष्टान्त गोस्वामीजीने भी दिये हैं, परंतु युक्तिके साथ। जहाँ जैसा चाहिये वहाँ वैसा कहा, एक ही जगह तीनों दृष्टान्त नहीं दिये। यह तुलसीकी विलक्षणता है। तीनों दृष्टान्त यथा—'*झूठेउ सत्य जाहि बिनु जाने। जिमि भुजंग बिनु रजु पहिचाने॥*' (१), '*रजत सीप महँ भास जिमि*' (२), '*जथा भानुकर बारि*' (३) गोस्वामीजीने पूर्व सर्पको 'जग' के साथ दोनोंका भयावन-धर्म लेकर कहा। भाव यह कि जैसे सर्प भयावन है, उसके डसनेसे लहरें आती हैं, मृत्यु होती है, वैसे ही जगत् भयावन है, उसको सत्य जानना ही उसका डसना है जिससे पुनर्जन्म-मरण होता है। और यहाँ '*रजत सीप*……' इस दोहेमें सीपमें चाँदी और मृगवारिमें जल इन्हीं दोका प्रयोजन था जैसा कि दोहा ११७ की टिप्पणी १ में लिखा गया।

टिप्पणी—३ गोस्वामीजीने दोनों प्रचलित मतोंको यहाँ दिया है। किसीके मतसे माया और जगत् हैं। उनके मतके अनुकूल कहते हैं कि '*जगत प्रकास्य प्रकासक रामू*'। अर्थात् जगत् है तभी तो जगत्‌को प्रकाशित करते हैं। तथा '*मायाधीस ग्यान गुन धामू*' से दिखाया कि माया है तभी तो मायाके अधीश हैं। पुनः, किसीके मतसे न माया है न जगत्। यथा—'*जासु सत्यता तें जड़ माया। भास सत्य इव मोह सहाया॥*' '*रजत सीप महँ भास जिमि जथा भानुकर बारि*……', '*एहि बिधि जग हरि आश्रित रहई। जदपि असत्य देत*……'॥ सीपमें चाँदी नहीं है, सूर्यकी किरणमें जल नहीं है, ऐसे ही माया और जगत् भी नहीं है।

वे० भू० जी—रजतादिका दृष्टान्त देकर '*एहि बिधि जग हरि आश्रित रहई*' पदसे जग और ब्रह्मका

* मायाको जगत्‌का उपादान कारण मानना सांख्यका मत है। अद्वैत एवं विशिष्टाद्वैतादि सिद्धान्तवाले तो ब्रह्मको ही उपादान कारण मानते हैं।

शरीर-शरीरी भावसे अपृथक् सिद्ध सम्बन्ध दिखलाया है। क्योंकि श्रुतिस्मृतिका मन्तव्य जगत् और ब्रह्मके शरीर-शरीरी भावमें है। यथा—**'यस्य पृथिवी शरीरम्', 'यस्यात्मा शरीरमिति श्रुतिः', 'जगत्सर्वं शरीरं ते'** इत्यादि।

टिप्पणी—४ (क) *'जौं सपने सिर काटै कोई'*.....।' अर्थात् जगत् स्वप्न है—*'उमा कहउँ मैं अनुभव अपना। सत हरिभजन जगत सब सपना॥'* संसारी दुःख स्वप्नका दुःख है जो जागनेसे ही जाता है। यथा—*'सपने के दोष दुख जागे ही पै जाहि रे।'* (विनय०) हरिको जानना ही जागना है। यथा—*'जेहि जाने जग जाइ हेराई। जागे जथा सपन भ्रम जाई॥'* (ख) *'जासु कृपा अस भ्रम मिटि जाई।'*— *'अस'* अर्थात् जैसे जागनेसे स्वप्नभ्रम मिट जाता है उसी प्रकार। पुनः, अस अर्थात् जो किसीके टाले न टल सका था, यथा—*'भ्रम न सकै कोइ टारि'* वह भ्रम (मिट गया)। भाव यह है कि भ्रमका मेटना-मिटाना क्रियासाध्य नहीं है वरन् कृपासाध्य है। स्वप्नका भ्रम जागनेसे जाता रहता है। मोह-निशामें सोये हुओंको रामकृपा जगाती है, यथा—विनयमें *'जानकीस की कृपा जगावती सुजान जीव'*.....।' मूढ़ताका त्याग और श्रीहरिपदमें अनुराग करना ही जागना है, यह रामकृपासे ही होता है। सोतेमें अपना दुःख दूर करनेका सामर्थ्य जीवमें नहीं है, (वह किसीके जगानेसे ही जागता है। जैसे सोतेमें बर्राते हुए सुनकर लोग सोये हुएको सावधान कर देते हैं कि क्या है? क्या बर्रा रहे हो? वही बात यहाँ बताते हैं कि *'जासु कृपा'*......' अर्थात् इस संसाररूपी रात्रिमें सोये हुए जीवको श्रीरामजीकी कृपा जगाती है।) रामकृपासे दुःख दूर होता है। और कोई भ्रम टाल भी नहीं सकता, रामजीकी कृपासे भ्रम मिट जाता है। (ग)*'सोइ कृपाल रघुराई।'* जगत्का भ्रम कृपा करके मेटते हैं अतः कृपाल कहा। पुनः कृपालका भाव कि कृपा करके रघुराई हुए, अवतारका हेतु कृपा ही है—**'मुख्यं तस्य हि कारुण्यम्।'** (कृपा न करते तो रघुकुलमें अवतार ही क्यों लेते ? नास्तिकोंका उपहास क्यों सहते?)

वि० त्रि०—ऊपर सीपमें रजत और भानुकरमें वारिके रहनेकी विधि कह आये कि उनकी भ्रान्तिमात्र होती है। इसी भाँति हरिमें जगत्के होनेकी भ्रान्तिमात्र है, वस्तुतः जगत् कुछ हुआ नहीं, भ्रान्तिमात्र है, मिथ्या है, फिर भी यह दुःख देता रहता है। उदाहरण देते हैं कि जैसे कोई स्वप्नमें सिर काटे। सिर तो वस्तुतः सुरक्षित है, सिरका काटना बिलकुल झूठ है, पर स्वप्न देखनेवाला सिरके कटनेकी पीड़ा और मरनेका दुःख ठीक-ठीक अनुभव करता है। उसे उस दुःखसे कोई छुड़ा नहीं सकता। उसको दुःखसे बचा देनेका एकमात्र उपाय उसका जागना है। जागनेसे ही उसका भ्रम मिट सकता है। स्वप्नके विकल्पमें केवल मन ही द्रष्टा, दर्शन और दृश्यरूप होकर विचित्रतासे भासता है। इसी प्रकार शुद्ध संवित् भी विचित्राकारसे भासती है। *'जगत प्रकास्य प्रकासक रामू॥'* (११७। ७) से *'गिरिजा सोइ कृपाल रघुराई।'* (११८। ३) तक श्रीशिवजीने शारदाकी ओरसे कहा।

नोट—२ (क) *'कृपा'* अर्थात् एकमात्र हम ही समस्त जीवोंकी रक्षा करनेमें समर्थ हैं, जीवकी सामर्थ्य नहीं है कि वह अपना दुःख दूर कर सके, यह सामर्थ्यका अनुसंधान कृपा है। यथा—**'रक्षणे सर्वभूतानामहमेव परो विभुः। इति सामर्थ्यसंधानं कृपा सा पारमेश्वरी॥'**—(वै०) (ख) *'जासु कृपा'* यथा—*'सो दासी रघुबीर कै समुझे मिथ्या सोपि। छूट न रामकृपा बिनु नाथ कहउँ पद रोपि॥'* *'अतिसय प्रबल देव तव माया। छूटइ राम करहु जौं दाया॥'* (ग) जागना कृपासाध्य है तो कृपा कैसे हो? इसका उत्तर यह है कि *'मन क्रम बचन छाँड़ि चतुराई। भजत कृपा करिहहिं रघुराई॥'* छल छोड़कर भजन करनेसे प्रभु कृपा करते हैं, इसका उदाहरण इसी ग्रन्थमें यत्र-तत्र मिलेगा, यथा—*'मन बच क्रम बानी छाँड़ि सयानी सरन सकल सुर जूथा'*, जब इस प्रकार ब्रह्मादिक प्रभुके शरण गये तब तुरत कृपा हुई, यथा—*'गगन गिरा गंभीर भइ हरनि सोक संदेहु'* (१८६), प्रभुने दुःखकी निवृत्तिका उपाय कर दिया।

रू० ना० मिश्र—अद्वैत-सिद्धान्तानुसार भाव यह है कि यहाँ असत्य होते हुए भी जगत् दुःख देता है, इसका उदाहरण देते हैं *'जौं सपने सिर काटै कोई'*.....।' अद्वैतमतानुसार जगत् स्वप्नवत् मिथ्या है।

स्वप्नमें देखे हुए सब पदार्थ मिथ्या होनेपर भी सुख-दुःख देते हैं वैसे ही जगत् मिथ्या होनेपर भी सुख-दुःख देता है, यथा—'**तस्मादिदं जगदशेषमसत्स्वरूपं स्वप्नाभमस्तधिषणं पुरुदुःखदुःखम्॥**' (भा० १०। १४। २२) अर्थात् यह अशेष जगत् असद्रूप, स्वप्नवत् अत्यन्त दुःखद है। पुनश्च, '**शोकमोहौ सुखं दुःखं देहापत्तिश्च मायया। स्वप्नो यथाऽऽत्मनः ख्यातिः संसृतिर्न तु वास्तवी॥**'(भा० ११। ११। २) अर्थात् इस जीवको मायासे शोक, मोह, सुख-दुःख और देहप्राप्ति इत्यादि संसृतिका भास होता है, वह वास्तविक नहीं है, जैसे कि स्वप्न।

यहाँ'*जासु सत्यता ते जड़ माया*' से'*जासु कृपा अस भ्रम मिटि जाई*' तक ग्रन्थमें परब्रह्म श्रीरामजीको सत्य तथा जगत्को मृगजल, शुक्तिरजत, स्वप्नवत् मिथ्या कहा है। इसी प्रकार इस ग्रन्थमें तथा विनय-पत्रिकामें परब्रह्म श्रीरामजीको सच्चिदानन्दरूप, एक, अनीह, अज, निर्गुण, निर्विकार, निराकार इत्यादि तथा जगत्को रज्जुसर्पादिवत् मिथ्या अनेक स्थलोंमें कहा है, इससे यही सिद्ध होता है कि श्रीगोस्वामीजी अद्वैत-सिद्धान्तके अनुयायी हैं; क्योंकि उपनिषद्, श्रीमद्भागवत तथा अन्य पुराण आदि सर्वमान्य प्राचीन ग्रन्थोंमें इस प्रकारका वर्णन मिलता है जिसको सर्व साम्प्रदायिक अपने-अपने सिद्धान्तानुसार किसी-न-किसी प्रकार लगा लेते हैं, परंतु निजी साम्प्रदायिक ग्रन्थमें इस प्रकारका वर्णन अद्वैतानुयायियोंके ग्रन्थोंको छोड़कर अन्यत्र कहीं भी नहीं मिलता है।

श्रीगोस्वामीजी किस सम्प्रदायके हैं यह तो इतिहासज्ञ लोग सिद्ध करें, परंतु उनके ग्रन्थकी शैली सगुणोपासक अद्वैतियोंके समान है* इतनी बात निर्विवाद है और '**वचस्येकं मनस्येकं कार्यमेकं महात्मनाम्**' इस वचनके अनुसार जैसा वे प्रतिपादन करते हैं वैसा ही उनका मत है यह भी सिद्ध ही है।

इसपर शङ्का हो सकती है कि अद्वैती तो निर्गुण ब्रह्मको ही माननेवाले हैं। वे तो '**अहं ब्रह्मास्मि**' मैं ही ब्रह्म हूँ, यही कहनेवाले हैं। वे सगुणोपासना और भक्तिमार्ग क्या जानें? इसका समाधान यह है कि—अद्वैत मतानुयायियोंमें दो भेद हैं, एक ज्ञानप्रधान और दूसरा भक्तिप्रधान। इनमें पहले भक्तिमार्गको मानते हुए भी तत्त्वविचार, आत्मचिन्तनमें विशेष निमग्न रहते हैं और दूसरे ब्रह्मको निर्गुण-निर्विकार आदि मानते हुए भी सगुणरूपके सेवा-पूजा आदि भक्तिमार्गमें निमग्न रहते हैं। इन दो मार्गोंमें प्रथम मार्ग विशेष कठिन है, दूसरा उसकी अपेक्षा कुछ सुलभ है, अतः प्रथम मार्गके अनुयायी थोड़े हैं और दूसरे मार्गके अनुयायी विशेष हैं। गोस्वामीजीने अपने ग्रन्थोंमें दोनों मार्गोंका प्रतिपादन समान भावसे किया है तथा दोनों मार्गके अनुयायी इसमें वर्णित हैं। इस चरित्रप्रधान ग्रन्थके अन्तिम फलश्रुतिमें भी'*रामचरनरति जो चह अथवा पद निर्बान*' कहकर स्पष्टरूपसे दो फल बताये हैं। श्रीलोमशजी प्रथम पक्षके अनुयायी हैं और श्रीशिवजी, अगस्त्यजी, सुतीक्ष्णजी आदि दूसरे पक्षके अनुयायी हैं।

अद्वैतसिद्धान्तको माननेवाले सगुणोपासक किस प्रकार होते हैं इसके उदाहरण महाराष्ट्रिय संत हैं। श्रीज्ञानेश्वर महाराज, नामदेवजी, एकनाथ महाराज, तुकारामजी महाराज, समर्थ रामदासस्वामी आदि अनेक महात्मा कट्टर अद्वैती होते हुए कट्टर सगुणोपासक हो गये हैं; यह बात उनके ग्रन्थोंसे सिद्ध होती है। किसीने यहाँतक कह डाला है कि यथार्थ उपासक तो अद्वैती ही हो सकता है, अन्य लोग तो उपासनाकी नकल उतारते हैं। ठीक भी है। उपासक तो अपने इष्ट उपास्यको छोड़कर अन्यको जानता ही नहीं, कहाँतक कहें वह अपना तन, मन, धनकी कौन कहे स्वयं अपनेको उपास्यमें मिला देता है; जैसा कि अरण्यकाण्डमें अनुसूयाजीने श्रीकिशोरीजीसे कहा है कि उत्तम पतिव्रताको अपने पतिको छोड़कर अन्य पुरुषका भान ही नहीं होता, ऐसे ही उस उपासककी स्थिति है वह '**सर्वं खल्विदं ब्रह्म**' अर्थात् यह जो सब अनुभवमें आता है वह सब मेरा उपास्य परब्रह्म परमात्मा ही है, '**अहं ब्रह्मास्मि**' अर्थात् मैं जिसको 'अहम्' ऐसा कहता हूँ वह 'ब्रह्म' ही है; मैं वास्तविक कोई वस्तु नहीं है। '**देहबुद्ध्या तु दासोऽहं जीवबुद्ध्या त्वदंशकः। तत्त्वबुद्ध्या त्वमेवाहमिति मे निश्चिता मतिः॥**' अर्थात् देह-बुद्धिसे मैं आपका दास हूँ, जीवबुद्धिसे आपका अंश हूँ, परंतु तत्त्वविचारसे

* श्रीगोस्वामीजी विशिष्टाद्वैती होते हुए उन्होंने अद्वैतियोंका-सा प्रतिपादन क्यों किया इसका कुछ समाधान इस ग्रन्थके प्रारम्भमें 'नये संस्करणका परिचय' में देखिये।

वास्तविक मैं तू ही हूँ यहाँपर 'एव' शब्द 'त्वम्' के साथ लगा है न कि 'अहम्' के साथ अर्थात् 'त्वम्' का प्राधान्य है। दूसरोंको क्या कहें, इस सिद्धान्तके आद्य उद्धारक शङ्कराचार्य—'**अविनयमपनय विष्णो०**' इत्यादि 'षट्पदी' में कहते हैं, '**सत्यपि भेदापगमे नाथ तवाहं न मामकीनस्त्वम्। सामुद्रो हि तरंगः क्वचन समुद्रो न तारंगः॥**' अर्थात् हे नाथ! यद्यपि (आपमें और मेरेमें वास्तविक कुछ) भेद नहीं है (तथापि द्वैत बुद्धिसे व्यवहार-दशामें यही कहा जाय कि) आपसे 'मैं' हूँ, न कि मुझसे आप; जैसे समुद्र और तरंगोंमें कुछ भेद नहीं है तथापि समुद्रसे तरङ्ग कहा जाता है तरङ्गोंसे समुद्र नहीं कहा जाता।

बड़े खेदकी बात है कि ऐसे महापुरुषको कुछ लोग 'मिथ्यावादी, मृषावादी' इत्यादि व्यंग्य कटु वचन (गुप्त गालियाँ) कहा करते हैं। सुना जाता है कि प्राचीन ग्रन्थोंमें कुछ लोगोंने अद्वैत खण्डनके समयमें इस प्रकार कहा है, यदि यह सत्य हो तो उन महापुरुषोंको क्या कहा जाय! हो सकता है कि अपने सिद्धान्तके अभिनिवेशसे क्रोधावेशमें आकर मुखसे कुछ निकल गया हो जैसा कि श्रीरामजीके राज्याभिषेकमें विघ्न होनेसे क्रुद्ध होकर लक्ष्मणजीने अपने पिताको कटु वचन कहे हैं (अ० रामायण), परंतु हमलोगोंको विशेषतः श्रीरामानन्दियोंको तो उसका अनुकरण कदापि नहीं करना चाहिये, क्योंकि हमलोगोंके पूर्वाचार्य श्रीनाभास्वामीजीने अपने श्रीभक्तमालमें—'*कलिजुग धर्म पालक प्रगट आचारज संकर सुभट*……।' इत्यादि वर्णन किया है। गोस्वामीजीके ग्रन्थोंको माननेवालोंको तो विशेषरूपसे सावधान रहना चाहिये, क्योंकि इन्होंने तो जगत्‌को 'मिथ्या, मृषा, असत्य, झूठ आदि' कहनेकी झड़ी ही लगा दी है।

मुख्य तात्पर्य कहनेका यह है कि अद्वैतसिद्धान्तानुयायी होनेसे और जगत्‌को झूठ कहनेसे उपासनामें यत्किञ्चित् भी न्यूनता नहीं आती किंतु विशेष लाभ ही है। अपने ऊपर अपना प्रेम तो सबका स्वभावसिद्ध है, 'मैं सदा रहूँ, मेरा नाश कभी न हो' यह सभी चाहते हैं, परंतु मैं कौन हूँ? मेरा क्या स्वरूप है?' यह न जाननेसे देहादिको ही अपना स्वरूप मानकर अर्थात् यह देहादिक ही मैं हूँ ऐसा समझकर ही इनपर प्रेम करते हैं और रात-दिन उसके लालन-पालनमें लगे रहते हैं; परंतु जब यह ज्ञान होगा कि यह 'देह, इन्द्रियाँ, मन और चेतन जीवात्मा' मैं नहीं हूँ; किंतु परब्रह्म परमात्मा श्रीरामजी ही मेरा स्वरूप हैं तब देहादिकी आसक्ति, प्रेम आदि हटकर श्रीरामजीपर यह सब होगा और तदनुसार उन्हींका लालन, पालन आदि सब कुछ होगा।

इसी प्रकार जगत्‌को मिथ्या माननेसे लाभ ही है, क्योंकि जगत्‌को झूठ समझनेपर न तो उसपर आसक्ति रहेगी, न उसकी इच्छा होगी और न उसकी प्राप्तिसे हर्ष तथा अभावसे दुःख होगा, इन सब विषयोंको दुःखदायी तो सब ही मानते हैं, उसका त्याग तो अवश्य करना ही है, तब इसको सत्य माननेका व्यर्थ उपद्रव किसलिये किया जाय, सत्य माननेसे उसमें आसक्ति बढ़ेगी, मिथ्या माननेसे आसक्ति घटेगी और उसके त्यागमें कष्ट नहीं होगा, इस प्रकार अद्वैतियोंके इस सिद्धान्तमें भी लाभ ही है।

अद्वैती जो जगत्‌को मिथ्या कहते हैं इस मिथ्या शब्दका अर्थ है 'अनिर्वचनीय' अर्थात् जिसका प्रतिपादन ठीक-ठीक नहीं हो सकता। नहीं कहो तो अनुभवमें आता है; और है कहो तो विचारनेपर हाथमें कुछ लगता नहीं। जैसा रज्जु-सर्प रज्जुके न जाननेसे अनुभवमें आया और समीप जाकर देखने लगे तो लापता हो गया; इसलिये इसको है वा नहीं, कुछ कहा नहीं जाता, इसीको 'अनिर्वचनीय' कहा जाता है। ठीक भी है कि व्यासजी, जैमिनिजी आदि षड्दर्शनाचार्य तथा श्रीस्वामी रामानुजाचार्य, श्रीमध्वाचार्य, श्रीवल्लभाचार्य आदि बड़े-बड़े धुरंधर विद्वान् भी जिसके निर्वाचनमें सहमत होकर एक निर्णय न कर सके तो उसको 'अनिर्वचनीय' न कहा जाय तो और क्या कहा जाय, वह तो 'अनिर्वचनीय' सिद्ध ही हुआ।

उपनिषद्, पुराण, आदिमें द्वैत और अद्वैत ये दो शब्द मिलते हैं। विशिष्टाद्वैतका नामतक कहीं नहीं है, तथापि श्रीरामानुजाचार्यजीने सब श्रुतियोंका समन्वय करके एक सिद्धान्त सिद्ध किया और उसीका नाम 'विशिष्टाद्वैत' रखा है। (इसका अर्थ कोई यह न समझे कि यह सिद्धान्त आधुनिक है। ये सब सिद्धान्त प्राचीन परम्परागत हैं, समयानुसार लुप्त हुए थे तो इन आचार्योंने उनका जीर्णोद्धार किया है), ठीक ऐसे ही श्रीगोस्वामीजीने

अपना क्या सिद्धान्त है यह कहीं स्पष्ट नहीं कहा, तथापि इस चरित्र-ग्रन्थमें निर्गुण परब्रह्मका वर्णन तथा जगन्मिथ्यात्व आदि अद्वैतियोंके खास विषयोंका वर्णन उन्होंने विशेषरूपसे किया है (जिसकी यहाँ बिलकुल आवश्यकता नहीं थी) इसीसे उनके विचारोंका अनुमान कोई भी निष्पक्षपातसे कर सकता है, मेरे विचारसे जो अद्वैती निर्गुण मतके नामपर उपासकोंको तुच्छ समझते हैं या विरोध करते हैं और जो उपासनाके नामपर निर्गुण विचारको तुच्छ समझते हैं या विरोध करते हैं, उन दोनोंके लिये गोस्वामीजीने इस प्रकार एकत्र वर्णन किया है कि ये दोनों इसको पढ़ें, मनन करें और परस्पर विरोध करना छोड़ दें।

जगन्मिथ्यात्व सिद्ध करनेके लिये 'रज्जु-सर्प, शुक्तिरजत, स्वप्न' आदि दृष्टान्त दिये जाते हैं, इसका कारण यह है कि जब मनुष्यके अनुभवके विरुद्ध कोई बात कही जाती है तो उसके समझमें नहीं आती, तब उसको समझानेके लिये उसके अनुभवमें आयी हुई बातोंका दृष्टान्त दिया जाता है, तब उसके समझमें आता है।

जगत् वस्तुत: है नहीं तो अनुभवमें कैसे आता है? यह समझानेके लिये ही रज्जुसर्पादिके दृष्टान्त दिये जाते हैं, इन दृष्टान्तोंको अपने सिद्धान्तानुकूल लगानेके लिये जगत्सत्यत्ववादी अनेक युक्तियाँ लगाते हैं। जैसे कि सर्प कभी देखा था उसीका यहाँ स्मरण हुआ, अथवा लम्बाकृति आदिरूपसे रज्जुमें सर्प सर्वदा रहता ही है। पञ्चीकरणसे शुक्तिमें (पृथ्वीमें) चाँदी (तेज) सूक्ष्मरूपसे रहता है, रविकिरणोंमें जल रहता ही है, स्वप्नमें ईश्वर सब पदार्थ उत्पन्न करते हैं इत्यादि। क्या सर्वसाधारण लोगोंको समझानेपर भी वे इन युक्तियोंको समझ सकते हैं? यदि नहीं तो दृष्टान्तोंसे क्या लाभ? इसीसे तो जगत्सत्यत्ववादी इन दृष्टान्तोंको कभी नहीं देते (और उनको आवश्यकता भी क्या है? सर्वसाधारण लोग तो जगत्‌को सत्य मानते ही हैं। उनको दृष्टान्त देकर समझानेकी आवश्यकता ही नहीं)। गोस्वामीजीने इन दृष्टान्तोंके द्वारा जगन्मिथ्यात्व अनेक बार सिद्ध किया है, इससे भी उनके सिद्धान्तका अनुमान कोई भी कर सकता है। (पं० रूपनारायण मिश्र)

**आदि अंत कोउ जासु न पावा। मति अनुमानि निगम अस गावा॥ ४॥**
**बिनु पद चलै सुनै बिनु काना। कर बिनु करम करै बिधि नाना॥ ५॥**
**आनन रहित सकल रस भोगी। बिनु बानी बकता बड़ जोगी॥ ६॥**
**तन बिनु परस नयन बिनु देखा। ग्रहै घ्रान बिनु बास असेषा॥ ७॥**
**असि सब भाँति अलौकिक करनी। महिमा जासु जाइ नहिं बरनी॥ ८॥**

शब्दार्थ—**अनुमानि**=अनुमान करके, विचार करके। ☞न्यायके अनुसार प्रमाणके चार भेदोंमेंसे एक 'अनुमान' भी है जिससे प्रत्यक्ष साधनके द्वारा अप्रत्यक्ष साध्यकी भावना हो। इसके भी तीन भेद हैं—पूर्ववत् वा केवलान्वयी, शेषवत् वा व्यतिरेकी (जिसमें कार्यको प्रत्यक्ष देखकर कारणका अनुमान किया जाय) और सामान्यतोदृष्ट वा अन्वयव्यतिरेकी (जिसमें नित्यके सामान्य व्यापारको देखकर विशेष व्यापारका अनुमान किया जाता है)। **बकता** (वक्ता)=बोलनेवाला; भाषण-पटु। **जोगी**=योगी।=योग (कौशल) वाला अर्थात् योग्य। **परस** (सं० स्पर्श)=छूनेकी क्रिया; छूना। यथा *'दरस परस मज्जन अरु पाना। हरै पाप कह बेद पुराना॥'* (१। ३५) **घ्रान** (सं०)=नाक। **बास** (वास)=गंध; सुगंध; बू। **असेषा**=सम्पूर्ण। **अलौकिक**=इस लोकसे परेकी; इस लोककी नहीं।=अप्राकृत दिव्य; अमायिक।=अद्भुत।

अर्थ—जिसका आदि और अन्त किसीने न पाया। वेदोंने बुद्धिसे अनुमान करके इस प्रकार (जैसा आगे लिखते हैं) गाया है॥ ४॥ (कि वह) बिना पैरके चलता है, बिना कानके सुनता है, बिना हाथके अनेक प्रकारके कर्म करता है॥ ५॥ मुखके बिना ही सम्पूर्ण रसोंका भोक्ता (भोग करने वा आनन्द लेनेवाला) है। वाणीके बिना ही बड़ा योग्य वक्ता है॥ ६॥ शरीरके बिना ही (अर्थात् बिना त्वक्, इन्द्रिय, त्वचाके) स्पर्श करता और नेत्रोंके बिना ही देखता है। नाकके बिना ही सम्पूर्ण गन्धको ग्रहण करता है (अर्थात् सूँघता है)॥ ७॥ उस (ब्रह्म) की करनी सब प्रकारसे ऐसी 'अलौकिक' है (कि) जिसकी महिमा वर्णन नहीं की जा सकती॥ ८॥

नोट—१ श्वेताश्वतरोपनिषद् तृतीयाध्यायमें इससे मिलती-जुलती श्रुतियाँ ये हैं—'**सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्।**''''''१७।''''''**अपाणिपादो जवनो ग्रहीता पश्यत्यचक्षुः स शृणोत्यकर्णः। स वेत्ति वेद्यं न च तस्यास्ति वेत्ता तमाहुरग्र्यं पुरुषं महान्तम्॥**' १९॥ अर्थात् वे परमात्मा समस्त इन्द्रियोंसे रहित होनेपर भी समस्त इन्द्रियोंके विषयोंको जानते हैं॥ १७॥ वे हाथों और पैरोंसे रहित होनेपर भी सब जगह समस्त वस्तुओंको ग्रहण करते हैं और वेगपूर्वक सर्वत्र गमन भी करते हैं। नेत्रके बिना ही देखते हैं, कानोंके बिना सब कुछ सुनते हैं। वे समस्त जानने योग्य और जाननेमें आनेवाले समस्त पदार्थोंको भलीभाँति जानते हैं; परंतु उनको जाननेवाला कोई नहीं है। जो सबको जाननेवाला है; भला उसको कौन जान सकता है? उसके विषयमें महापुरुष कहते हैं कि वे सबके आदि, पुरातन, महान् पुरुष हैं॥ १९॥

नोट—२ पद्मपुराणभूमिखण्ड अध्याय ८६ वेन-विष्णु-संवादान्तर्गत गुरुतीर्थ तथा च्यवन महर्षिकी तीर्थयात्रा-कथा-प्रसंगमें कुञ्जल (तोता)-उज्ज्वल-संवादमें कुञ्जलने भगवान्‌का ध्यान इसी तरहका वर्णन किया है, यथा—'**ध्यानं चैव प्रवक्ष्यामि द्विविधं तस्य चक्रिणः। केवलं ज्ञानरूपेण दृश्यते ज्ञानचक्षुषा॥** ६९॥ **योगयुक्ता महात्मानः परमार्थपरायणाः। यं पश्यन्ति यतीन्द्रास्ते सर्वज्ञं सर्वदर्शकम्॥** ७०॥ **हस्तपादादिहीनश्च सर्वत्र परिगच्छति। सर्वं गृह्णाति त्रैलोक्यं स्थावरं जंगमं सुत॥** ७१॥ **मुखनासाविहीनस्तु घ्राति भुङ्क्ते हि पुत्रक। अकर्णः शृणुते सर्वं सर्वसाक्षी जगत्पतिः॥** ७२॥ **अरूपो रूपसम्पन्नः पञ्चवर्गसमन्वितः। सर्वलोकस्य यः प्राणः पूजितः सचराचरे॥** ७३॥ **अजिह्वो वदते सर्वं वेदशास्त्रानुगं सुत। अत्वचः स्पर्शमेवापि सर्वेषामेव जायते॥** ७४॥ **सदानन्दो विरक्तात्मा एकरूपो निराश्रयः। निर्जरो निर्ममो व्यापी सगुणो निर्गुणोऽमलः**'॥ ७५॥ अर्थात् (मैं चक्रधारीभगवान्‌का ध्यान कहता हूँ। वह दो प्रकारका है—निराकार और साकार। निराकारका ध्यान ज्ञानरूपसे होता है, ज्ञाननेत्रसे ही वे देखे जाते हैं। योगी और परमार्थपरायण महात्मा तथा यतीन्द्र उन सर्वज्ञ सर्वद्रष्टाका साक्षात्कार करते हैं॥ ६९-७०॥ वे हस्तपादादिरहित होनेपर भी सर्वत्र जाते और समस्त चराचर त्रैलोक्यको ग्रहण करते हैं॥ ७१॥ मुख और नासिकारहित होनेपर भी वे खाते और सूँघते हैं। बिना कानके सुनते हैं। सबके साक्षी और जगत्पति हैं॥ ७२॥ रूपहीन होनेपर भी पञ्चेन्द्रिययुक्त रूपवाले भी हैं। सर्वलोकोंके प्राण और चराचरसे पूजित हैं॥ ७३॥ जिह्वारहित होनेपर भी वे वेदशास्त्रानुकूल सब बातें बोलते भी हैं। त्वचारहित होनेपर भी सबोंका स्पर्श करते हैं॥ ७४॥ वे सत्-आनन्दस्वरूप विरक्तात्मा, एकरूप, निराश्रय, जरा-ममता-रहित, सर्वव्यापक, सगुण, निर्गुण और विशुद्ध हैं॥ ७५॥)

नोट—३ वैराग्यसंदीपनीमें गोस्वामीजीने यही विषय यों लिखा है—'*सुनत लखन श्रुति नयन बिनु रसना बिनु रस लेत। बास नासिका बिनु लहइ परसइ बिना निकेत॥*' ३॥

टिप्पणी—१ '*आदि अंत कोउ जासु न पावा।*''''''' इति। (क) आदि और अन्त तन धारण करनेसे होता है, उसके तन नहीं है जैसा आगे कहते हैं—'*तन बिनु परस*''''''*।*' [(ख) इस कथनका भाव यह है कि प्राकृत लोगोंका जन्म 'आदि' है और मरण 'अन्त' है और ये तो स्वतः भगवान् हैं, परात्पर ब्रह्म हैं, अतएव 'अनादि' हैं। स्मरण रहे कि अवतारमें जन्म नहीं होता, प्रभु प्रकट हो जाते हैं। (मा० पी० प्र० सं०) पुनः, 'आदि-अन्त किसीने न पाया' का भाव कि सारी सृष्टि प्रभुसे ही उत्पन्न होती है और अन्तमें उन्हींमें लीन हो जाती है; तात्पर्य कि सृष्टिके पूर्व भी एकमात्र प्रभु ही थे और सृष्टिके अन्तपर भी एकमात्र वे ही रह जाते हैं और कोई नहीं। तब बीचमें पैदा हुआ जीव उनका आदि-अन्त क्या जाने? सृष्टिके स्थितिकालमें भी जीव जब ज्ञानका सब व्यवहार कर रहा है, उस अवस्थामें भी वह उनका यथार्थ वर्णन नहीं कर सकता। क्योंकि वह परिच्छिन्न है, अणु है और प्रभु अपरिच्छिन्न तथा व्यापक हैं। अतः '*आदि*''''''*पावा*' कहा। (ग) बैजनाथजी लिखते हैं कि 'श्रीरघुनाथजीका रूप कब और किससे हुआ, नाम कब किसने धरा, धाम कब किसने निर्माण किया और लीला कबसे प्रारम्भ हुई इति 'आदि' और कबतक रहेंगे इति 'अन्त' 'किसीने भी न पाया।' (घ) मनुष्यकी बुद्धिमें सादि और सान्त पदार्थ ही आ सकते हैं, अनादि और अनन्तकी वह भावना नहीं कर सकता। जिसका आदि और अन्त हो उसीका वर्णन सम्भव है। (वि० त्रि०)]

टिप्पणी—२ (क)'*मति अनुमानि*' इति। भाव कि वेद भी यथार्थ (नहीं जानते और न) कह सकते हैं, बुद्धिके अनुमानभर कहते हैं; क्योंकि आदि-अन्त कुछ है ही नहीं। (भाव यह है कि वेद अनादि हैं सो वे भी जिनका आदि और अन्त खोजते-खोजते हार गये तब अपनी बुद्धिसे अनुमान करके उन्होंने ऐसा कहा तो फिर और लोग किस गिनतीमें हैं। इसी विचारसे यहाँ केवल वेदोंका नाम दिया और '*कोउ*' शब्दसे शेष सब सृष्टिको जना दिया।)

नोट—४ रा० प्र० कार कहते हैं कि भाव यह है कि 'वह जैसा है वैसा वेद भी नहीं जानते और न कह सकते हैं। इसपर यदि कोई शंका करे कि 'आदि-अन्त नहीं तो जन्म, परधामगमन आदि तो सुना गया है और जिनके हाथ-पैर इत्यादि होते हैं उनका एक दिन अभाव भी है ?' तो इसके निवारणार्थ कहते हैं कि उनका प्राकृत शरीर ही नहीं तो जन्म और अन्त कैसे बनेगा—'*चिदानंदमय देह तुम्हारी।*' इसीको आगे कहते हैं—तीन चौपाइयोंमें प्राकृत इन्द्रिय, प्राकृत शरीर और प्राकृत करनी इत्यादिका निषेध करके फिर कहेंगे कि वह अप्राकृतिक है तथा उसकी इन्द्रियाँ कर्म इत्यादि भी अप्राकृतिक हैं।

नोट—५ '*गावा*'—बैजनाथजी लिखते हैं कि जो बात निश्चयपूर्वक जानी-समझी न हो उसको समझाकर विस्तारसे कहना असम्भव है। इसलिये '*बखाना*' वर्णन करना' इत्यादि शब्द न देकर '*गाना*' शब्दका यहाँ प्रयोग किया, क्योंकि 'गान' में केवल भावार्थ ही दर्शित किया जाता है; पढ़ने-सुननेवाला जैसा चाहे समझ ले। इस प्रकार वक्ताकी भी मर्यादा बनी रह जाती है।' दोहा ४५ भी देखिये।

टिप्पणी—३ (क) '*बिनु पद चलै*······' इति। यहाँसे भगवान्‌का वर्णन है। भगवान् पादके देवता हैं इसीसे 'पद' से वर्णन प्रारम्भ किया। इन्द्रियके बिना इन्द्रियका विषय (भोग) कहते हैं यह ईश्वरकी ईश्वरता है, इन्द्रियके बिना इन्द्रियका विषय नहीं होता। इन्द्रियोंका विषय भी उनमें नहीं है, यह उनकी ईश्वरता है, जैसा आगे कहते हैं, यथा—'*महिमा जासु जाइ नहिं बरनी।*' वे सब जीवोंकी इन्द्रियों और इन्द्रियोंके विषयको प्रकाशित करते हैं, यथा—'*बिषय करन सुर जीव समेता।*······*सब कर परम प्रकासक जोई।*' और आप स्वयं इन्द्रिय और उनके विषयसे रहित हैं। क्योंकि इन्द्रिय और उनके विषय माया हैं। (ख)'*तन बिनु परस*······*असेषा*' यहाँतक दस इन्द्रियोंमेंसे आठका विषय कहा, अश्लील समझकर गुदा और लिङ्गके विषय नहीं कहे।

टिप्पणी—४ '*असि सब भाँति अलौकिक करनी*' इति। (क) '*सब भाँति*'— पृथक्-पृथक् चरण, कर, नेत्र, नासिका और श्रवण आदिको कह आये। जिसके रूपको वेद पार नहीं पाते, जिसकी महिमाका वर्णन करना असम्भव है; इस कथनका तात्पर्य यह है कि उनका रूप अनन्त है। उनकी महिमा अनन्त है। यथा—'*महिमा नाम रूप गुन गाथा। सकल अमित अनंत रघुनाथा॥*' (ख) ऐसी अलौकिक करनी है। भाव कि जैसी करनी प्रभुमें है कि बिना इन्द्रियके सब कार्य करते हैं वैसी करनी त्रैलोक्यमें नहीं है, यह अलौकिकता है।

वि० त्रि०—योगी लोग आज भी ऐसे बहुत-से कार्य कर दिखाते हैं, जिन्हें साधारण पुरुष विश्वास नहीं कर सकते। जिसकी प्रकृति जिस वस्तुके विश्वास करनेकी नहीं होती वह उस वस्तुका विश्वास नहीं कर सकता। आँखमें पट्टी बाँधकर पीठके द्वारा पुस्तक पढ़नेका कौतुक जिसने देखा है, वह बिना हाथके ग्रहण करनेपर, बिना पैरके चलनेपर, बिना आँखके देखनेपर, बिना कानके सुननेपर अविश्वास नहीं कर सकता, फिर जिन कामोंको योगिवर्य कर सकते हैं, उन्हें परमेश्वर जो नित्य योगी हैं, जो सर्वदा ऐश्वर्यशाली हैं, अवश्य कर सकते हैं, वे बिना पैरके चल सकते हैं, बिना हाथके ग्रहण कर सकते हैं, बिना कानके सुन सकते हैं, बिना आँखके देख सकते हैं, इसमें आश्चर्यकी बात नहीं है। इसीसे '*बड़ जोगी*' अर्थात् महायोगी कहा है। लौकिक करनीके वर्णनके लिये शब्द हैं, अलौकिक पदार्थके वर्णनके लिये शब्द नहीं मिलते। इसलिये जिस महाप्रभुकी करनी सब भाँतिसे अलौकिक है, उसकी महिमा नहीं बर्णन की जा सकती।

## 'आदि अंत·······अलौकिक करनी' इति।

इन चौपाइयोंके जोड़की जो श्रुतियाँ नोट १ में श्वेताश्वतरोपनिषद्से उद्धृत की गयी हैं उनके पूर्वकी श्रुतियाँ ये हैं—१ **'विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतो बाहुरुत विश्वतस्पात्।'** (श्वे० ३। ३) अर्थात् उनकी सब जगह आँखें हैं, सब जगह मुख हैं, सब जगह हाथ हैं और सब जगह पैर हैं। (२) **'तेनेदं पूर्णं पुरुषेण सर्वम्।'** (३।९) अर्थात् उस परम पुरुष परमेश्वरसे यह सम्पूर्ण जगत् परिपूर्ण है। (३) **'सर्वाननशिरोग्रीवः।'** (३। ११) अर्थात् वह परमात्मा सब ओर मुख, सिर और ग्रीवावाला है। (४) **'सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्।'** (३। १४) वह परमपुरुष हजारों सिरोंवाला, हजारों आँखोंवाला और हजारों पैरोंवाला है। (५) **'सर्वतः पाणिपादं तत्सर्वतोऽक्षिशिरोमुखम्। सर्वतः श्रुतिमल्लोके सर्वमावृत्य तिष्ठति॥'** (३। १६) अर्थात् वह परम पुरुष सब जगह हाथ-पैरवाला, सब जगह आँख, सिर और मुखवाला तथा सब जगह कानोंवाला है·······।' (६) **सर्वेन्द्रियगुणाभासं सर्वेन्द्रियविवर्जितम्। सर्वस्य प्रभुमीशानं सर्वस्य शरणं बृहत्॥** १७॥ अर्थात् जो समस्त इन्द्रियोंसे रहित होनेपर भी समस्त इन्द्रियोंके विषयोंको जाननेवाला तथा सबका स्वामी और सबका शासक एवं सबसे बड़ा आश्रय है।

वेदोंमें ब्रह्मके रूप और प्रत्येक इन्द्रियोंके वर्णनके साथ ही इन्द्रियोंका व्यापार भी वर्णित है। यथा—**'ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्।'** (यजु०) इस श्रुतिमें ब्रह्मके मुख होना कहा है। इसी तरह **'अस्य महतो भूतस्य निःश्वसितमेतदृग्वेदो यजुर्वेदः सामवेदः।'** (छां०, **'सर्वगन्धः सर्वरसः'** (बृ० उ०) **'बाहूराजन्यः कृतः'** (यजु०), **'चन्द्रमा मनसो जातः'** (यजु०), **'सत्यकामः सत्यसंकल्पः'** (छां०), **'इच्छां चक्रे'** और **'तदैक्षत बहु स्याम्'** (छां०) में ब्रह्मका श्वास लेना, सूँघना तथा स्वाद लेना, दो भुजाओंवाला होना, मनवाला, सङ्कल्प करनेवाला, इच्छा करनेवाला कहकर बुद्धिवाला सूचित किया गया है। ये सब श्रुतियाँ ब्रह्मको शरीरवाला कहती हैं।

इस तरह परस्पर विरोधी श्रुतियाँ वेदोंमें हैं और सभी सत्य हैं, मात्र देखने-सुननेमें ही इनमें विरोध भासित होता है। ☞इसीसे कहते हैं—*'अस सब भाँति अलौकिक करनी।'* परब्रह्म परमात्मा अचिन्त्यशक्ति हैं और विरुद्धधर्माश्रय हैं। एक ही समयमें उनमें विरुद्धधर्मोंकी लीला होती है। इसीसे वे एक ही साथ सूक्ष्म-से-सूक्ष्म और महान्-से-महान् बताये गये हैं—**'अणोरणीयान्महतो महीयान्।'** (कठ० १ वल्ली २। २०) वे परमात्मा अपने नित्य परधाममें विराजमान रहते हुए ही भक्ताधीनतावश उनकी पुकार सुनते ही दूर-से-दूर चले जाते हैं—**'आसीनो दूरं व्रजति।'** परधाममें निवास करनेवाले पार्षदोंकी दृष्टिमें वहाँ शयन करते हुए ही वे सब ओर चलते रहते हैं। **'शयानो याति सर्वतः।'** अथवा वे सदा सर्वदा सर्वत्र स्थित हैं, उनकी सर्वव्यापकता ऐसी है कि बैठे भी वही हैं, दूर देशमें चलते भी वही हैं, सोते भी वही हैं और दूर देशमें जाते-आते भी वही हैं। वे सर्वत्र सब रूपोंमें नित्य अपनी महिमामें स्थित हैं। इस प्रकार अलौकिक परमैश्वर्यस्वरूप होनेपर भी उन्हें अपने ऐश्वर्यका अभिमान नहीं है। (कठ० १। २। २१)

सम्पूर्ण लोकोंमें स्थित समस्त जीवोंके कर्म एवं विचारोंको तथा समस्त घटनाओंको अपनी दिव्य शक्तिद्वारा निरन्तर देखते रहते हैं। भक्त जहाँ-कहीं भी भोजनके योग्य वस्तु समर्पित करता है उसे वे वहीं भोग लगा सकते हैं। वे सब जगह प्रत्येक वस्तुको एक साथ ग्रहण करनेमें और अपने आश्रित जनोंके सङ्कटका नाश करके उनकी रक्षा करनेमें समर्थ हैं। जहाँ भी उनके भक्त उन्हें बुलाना चाहें, वहीं वे एक साथ पहुँच सकते हैं। उन्होंने भक्तोंकी रक्षा करने तथा उनको अपनी ओर खींचनेके लिये हाथ बढ़ा रखा है। भक्त जहाँ उनको प्रणाम करता है वहीं उनके चरण और सिर आदि अङ्ग मौजूद रहते हैं।

बाबा जयरामदासजी रामायणी—*'बिनु पद चलइ सुनइ बिनु काना। कर बिनु करम करै बिधि नाना॥'* इस चौपाईको पढ़नेपर यह शङ्का उठती है कि जब भगवान् बिना पैरके चल सकते हैं, बिना कानके सुन सकते हैं, बिना हाथके काम-काज कर सकते हैं, तब उन्हें अवतार लेनेकी क्या आवश्यकता होती

है? वे तो निराकाररूपसे ही सब कुछ कर सकते हैं। और भगवान्‌के निराकार एवं सर्वव्यापी होनेकी स्थितिमें *'बिनु पद चलै'* आदि भी कहना कहाँतक ठीक है ?'

उत्तर—भगवान्‌के गुण, प्रभाव और रहस्यको न जाननेके कारण ही इस प्रकारकी शङ्काएँ उठा करती हैं। यदि हम भगवान्‌के सर्वशक्तिमान् सर्वव्यापी होनेपर ही विश्वास कर लें तो इस शङ्काका समाधान अपने-आप हो जाता है। क्योंकि जो सर्वव्यापी एवं सर्वशक्तिमान् है वह सब जगह सब कुछ कर सकता है।"""इस प्रसंगमें ग्रन्थकारने वेदवचनों (**'अपाणिपादो जवनो ग्रहीता'** इत्यादि) का ही अक्षरश: अनुवाद किया है—*'जेहि इमि गावहिं बेद'""।'* अस्तु। उपर्युक्त शङ्का केवल श्रीमानससे ही नहीं, वेदोंसे भी सम्बन्ध रखती है।*'बिनु पद चलै'* इत्यादिसे यही दिखलाया गया है कि परब्रह्म श्रीभगवान् जीवोंकी भाँति मायिक शरीर और इन्द्रियोंकी अपेक्षा न रखकर सर्वशक्तिमान् होनेके कारण शरीर और इन्द्रियोंके कार्योंको अपनी शक्तिसे ही सिद्ध कर लेनेमें पूर्ण समर्थ हैं। यहाँ यह बात नहीं कही गयी है कि परमात्माको चलनेकी आवश्यकता पड़ती है, बल्कि उनके इस ऐश्वर्यका कथन किया गया है कि और कोई बिना पैरके नहीं चल सकता परन्तु भगवान्‌में सामर्थ्य है, वे बिना पैरके भी चलते हैं, यही अघटित घटना है; इसीलिये आगे चौपाईमें कहा गया है—*'असि सब भाँति अलौकिक करनी। महिमा जासु जाइ नहिं बरनी॥'*

अब रही यह शङ्का कि 'सर्वव्यापीको चलनेकी आवश्यकता नहीं, इसलिये उनके सम्बन्धमें *'बिनु पद चलइ।'* आदि कहना ठीक नहीं है, अथवा सर्वज्ञके सुनने-सुनाने एवं सर्वद्रष्टाके देखने-दिखाने आदि क्रियाओंका वर्णन करना असंगत है।' इस शङ्काका समाधान तभी हो सकता है जब वेदभगवान् अथवा स्वयं गोस्वामिपाद अपनी कृपाका प्रसार करके इस रहस्यको समझा दें। इस सम्बन्धमें कवितावलीके *'अंतरजामिहु ते बड़े बाहरजामी हैं राम जो नाम लिए तें। धावत धेनु पेन्हाइ लवाइ ज्यों बालक बोलनि कान किए तें॥ आपनि बूझि कहै तुलसी कहिबे की न बावरि बात बिये तें। पैज परें प्रहलादहु को प्रगटे प्रभु पाहन ते न हिये तें॥'* इस सवैयामें भक्तजनोंके हितार्थ बहुत सुन्दर सिद्धान्त निचोड़कर रख दिया गया है। इसका तात्पर्य यह है कि भक्तलोग अपने सगुण सरकारको ही निर्गुण अर्थात् मायाके गुणोंसे अतीत, निराकार अर्थात् मायिक (पाञ्चभौतिक) शरीरसे परे, दिव्य विग्रह, दिव्य वपु, वेदसिद्धान्त आदि मानते हैं। उन्हीं प्रभुको सर्वव्यापक मानकर उनके सम्बन्धमें श्रीगोस्वामिपाद यह कह रहे हैं कि 'अन्तर्यामी भगवान्‌से हमारे बहिर्यामी प्रभु श्रीरामचन्द्रजी ही बड़े हैं, क्योंकि जब कोई प्रेमपूर्वक उनका नाम पुकारता है तब वे उसे सुनकर इस प्रकार दौड़ते हैं, जैसे तत्काल ब्याई हुई गौ अपने बछड़ेकी बोली सुनकर वात्सल्यभावसे उसकी ओर दौड़ती है। श्रीगोस्वामीजी महाराज कहते हैं कि मैं अपने समझकी बावरी बात कह रहा हूँ, यह बात दूसरेसे कहनेयोग्य नहीं है। बात यह है कि यद्यपि श्रीप्रह्लादजी सर्वव्यापी भगवान्‌के सच्चे विश्वासी और एकनिष्ठ भक्त थे, परन्तु जब पैज पड़ गयी तब उनकी बात रखने तथा उनकी रक्षा करनेके लिये उनके हृदयके अन्तरसे अन्तर्यामी भगवान् नहीं निकले, बल्कि भक्तभयहारी भगवान् बाहरसे अर्थात् खम्भसे ही प्रकट हुए।

कितनी सुन्दर युक्ति है, इस प्रकार भगवत्-भागवत-रहस्योंपर विचार करनेपर निराकार एवं सर्वव्यापी प्रभुका सुनना, बोलना, चलना ही नहीं, दौड़ना तथा भक्तरक्षार्थ कर्म (युद्धादि) करना भी सिद्ध होता है। इसमें शङ्का करनेकी कोई बात नहीं।

नोट—६ श्रीरामजीकी जो महिमा यहाँ वर्णन की गयी है, उसपर महानुभावोंने भिन्न-भिन्न भाव लिखे हैं जो यहाँ लिखे जाते हैं—

(१) प्रोफे० लाला भगवानदीनजी कहते हैं कि 'इन चौपाइयोंसे मैं तो यह मतलब समझता हूँ कि जैसे लौकिक जनोंके लिये इन्द्रियोंका होना जरूरी है, वैसे ही कोसलपति दशरथसुतके लिये जरूरी नहीं। अर्थात् लौकिक जन बिना इन्द्रियोंके कोई कार्य नहीं कर सकते, पर कोसलपति श्रीरामजी कर सकते हैं। भावार्थ यह हुआ कि उनकी शक्ति अनन्त और अपार है, वे किसी प्रकारसे प्रकृतिके पाबंद नहीं

हैं, स्वतन्त्र हैं। यह बात *'अलौकिक'* शब्दसे प्रत्यक्ष प्रकट है, इसी शब्दपर विचार करनेसे सब रहस्य खुल जाता है।'

(२) इस प्रसंगमें गोस्वामीजी *'बिनु पद चलै'* से लेकर *'ग्रहइ घ्रान बिनु बास असेषा'* तक इन्द्रियरहित होते हुए भी इन्द्रियोंके सब व्यवहार कार्योंका करना कहते हैं। पदादि इन्द्रियरहित होनेमें भाव यह है कि प्रभुका सर्वाङ्ग चिन्मय है जैसा कि वाल्मीकिजीने भी कहा है यथा—*'चिदानन्दमय देह तुम्हारी। बिगत बिकार जान अधिकारी॥'* (२। १२७। ५)

इसपर यह प्रश्न उठता है कि 'प्रभुके नखशिखका वर्णन, कर-पद-नासिका-नेत्रादि इन्द्रियोंका उल्लेख शास्त्रों, पुराणों, रामायणों आदिमें तथा इस ग्रन्थमें भी अनेक स्थलोंमें विस्तारसे पाया जाता है, उसके अनुसार यहाँ विरोध-सा जान पड़ता है?' इसका समाधान इस प्रकार है कि जैसे स्वर्णकी मूर्तिमें हस्तपादादि सब अवयव रहते हैं, परंतु विचारदृष्टिसे देखनेसे वहाँ स्वर्णके अतिरिक्त और कोई वस्तु नहीं है फिर भी जब हम उसका वर्णन करते हैं तब उसके प्रत्येक अङ्गका पृथक्-पृथक् वर्णन करते हैं। इसी प्रकार प्रभुके सगुणरूपमें विग्रहानुसार सब अवयव देखनेमें आते हैं, उन्हींका वर्णन ऋषि-मुनि-भक्तजन आदि मति-अनुसार करते हैं। तात्पर्य कि प्रभुके सर्वाङ्ग चिन्मय हैं। अतिरिक्त तत्त्वान्तरसे बने हुए अस्मदादिकोंके इन्द्रियोंके सदृश उनका तत्तद्विषयज ज्ञान नहीं है, अर्थात् इन्द्रियादिके निरपेक्ष सर्वदा सर्वविषयक भान आदि उनमें विद्यमान हैं।' (दार्शनिक सार्वभौमजी)

*'असि सब भाँति अलौकिक करनी'*……' इति। जैसे सर्वसाधारण जीव मन, इन्द्रिय और देह आदिसे अभीष्ट कार्य करते हैं, वैसे ही सब कार्य भगवान् बिना इन्द्रियोंके ही करते हैं, अतः उसे *'अलौकिक'* कहा। तात्पर्य यह है कि प्रभु सर्वव्यापक हैं। भक्त जहाँ ही उनको पुकारता है, वहाँ ही वे उसकी पुकार सुन लेते हैं और आ भी जाते हैं। वास्तविक यह आना-जाना भी लोकव्यवहार-दृष्टिसे ही कहा जाता है, नहीं तो वे तो अव्यक्तरूपसे वहाँपर भी विद्यमान हैं। यही बिनु पद चलने, बिना कानोंके सुनने आदि कथनका भाव है। इसी प्रकार और भी इन्द्रियरहित व्यवहारोंको समझिये।

(३) किसीका मत है कि 'भगवान्‌का स्वरूप सदैव षोडश वर्षका और द्विभुज है। यह निरूपण साकार ब्रह्मका है। क्योंकि यदि इसको निराकारका निरूपण मानें तो अनेक शङ्काएँ उठती हैं, यथा—जब ब्रह्म सबमें व्याप्त ही है तो ऐसा कौन स्थल है जहाँ उनको चलनेकी आवश्यकता होगी; बोलना और सुनना बिना दो व्यक्तियोंके नहीं हो सकता, यदि कोई और भी है तब तो दो ईश्वर हुए या उसके समान कोई और भी है, ऐसा हुआ तो ईश्वरके अद्वितीय होनेमें संदेह होगा। वह तो अकर्म है; उसका कर्म होना (करना?) कैसे सम्भव हो सकता है कि जिसके लिये उसको हाथकी जरूरत है, जब किसी रसमें वह अपूर्ण हो तभी उसको किसी रसका भोक्ता कह सकते हैं, वह ब्रह्म तो वाणीमें और वाणीसे परे है तो उसको वक्ता कैसे कह सकते हैं ? पुनः, जब वह किसीसे अलग हो तब उसका स्पर्श करना कहा जावे। वह तो चराचरमें व्याप्त है। इत्यादि, इत्यादि। अतएव यह निश्चय है कि श्रीशिवजी साकारहीका निरूपण कर रहे हैं।'

'त्रिपुटीके अभ्यन्तर सब चराचर ब्रह्माण्ड, विषय, इन्द्रिय, देवता इत्यादि हैं। जैसे कानपर दिशा, पाँवपर यज्ञविष्णु इत्यादि। जब देवता अपना निवास छोड़ते हैं तब मनुष्य श्रवणादि कर्म नहीं कर सकता। विराट् इत्यादिके इन्द्रियोंपर भी इनका वास रहता है, क्योंकि सतोगुणसे सम्पूर्ण देवताओं, रजोगुणसे इन्द्रियों और तमोगुणसे विषयोंकी उत्पत्ति और स्थिति है। परंतु प्रभु रामचन्द्रजीकी देह सच्चिदानन्दमय है, देही-देहका यहाँ विभाग नहीं, यज्ञविष्णु आदि देवताओंका वास इनकी इन्द्रियोंपर नहीं—यही तात्पर्य *'बिनु पद'* इत्यादिका है।'

(४) मानसमयङ्ककार लिखते हैं कि 'अलौकिक शब्दको विचारो क्योंकि लौकिक उसे कहते हैं जिसका बीज त्रिपुटी है अर्थात् इन्द्रिय, देवता और विषय, जिससे लौकिक काम बनता है और परमात्माका अलौकिक कर्म है अर्थात् चलना, सुनना, कर्म करना इत्यादि सब हैं परंतु इन्द्रियरहित हैं। तात्पर्य यह

कि परमात्माकी इन्द्रियाँ भी अलौकिक हैं जिनसे वह सब कर्म करता है। इससे यह सिद्ध होता है कि रामका चरण इत्यादि अङ्ग सनातन विराजमान हैं, जिसके बिना लौकिक अर्थात् त्रिपुटी असमर्थ हो छीज जाता है, यथा—'*सबकर परम प्रकासक जोई। राम अनादि अवधपति सोई॥*',' *शब्द अलौकिक ही लखो लौकिक त्रिपुटी बीज। राज राम चरणादि नित तिन बिन लौकिक छीज॥*'

(५) वि० त्रि०—एक स्थानसे पैर उठाकर दूसरे स्थानमें रखना ही चलना है। जहाँ पहिले पैर था वहाँ भी वह है। जहाँ रखा जायगा वहाँ भी वह है, अतः वह बैठे-ही-बैठे दौड़नेवालेके आगे निकल जाता है। (**तद्धावतोऽन्यानत्येति तिष्ठत्**), वह श्रोत्रका भी श्रोत्र है, अतः बिना कानके सुनता है। उसके पाणिपाद सर्वत्र हैं, सर्वत्र सिर-मुख हैं, इत्यादि। इसीलिये उसे अपाणिपाद कहते हैं।

(६) श्रीबैजनाथजी इसका भावार्थ यों लिखते हैं कि (क) 'किसीने उसके पैर, कान, हाथ, मुख आदि देखे नहीं पर अनुमानसे उसका चलना, सुनना, अनेक कर्म करना, सब रसोंका भोक्ता होना इत्यादि सूचित होता है; क्योंकि उसीके प्रभावसे सब चलते, सुनते इत्यादि हैं, जैसे प्रजाके गुण देखकर राजाके गुणोंका अनुमान किया जाता है, वैसे ही श्रीरघुनाथजीको वेद अनुमान करके गाते हैं।'

(ख) 'हरिभक्त ऐसा अर्थ करते हैं कि जैसे सब जीवोंके हाथ, पैर, कान आदि इन्द्रियाँ हैं वैसी इन्द्रियाँ श्रीरामरूपमें नहीं हैं। उनका सर्वाङ्ग एकतत्त्व स्वयंप्रकाशरूप है। यथा—'**पदश्रवणकराननवाणीत्वङ्नयन-नासिकादीन्द्रियविषयाधीशैः विवर्जितो रामः साक्षात्परब्रह्मविग्रहः सच्चिदानन्दात्मकः स्वयम्**' (शिवस्मृति)। इस प्रकार प्रभुके पदकर्णादि विषय देवादि त्रिपुटीबद्ध नहीं हैं। अतएव बिना पदादि चलना आदि कहा।'

(ग) 'ज्ञानी लोग अर्थ करते हैं कि अन्तरात्मा पदादि अङ्गहीन है, परंतु उसीकी शक्तिसे गमनागमन आदि देहका व्यवहार होता है। अतएव बिना पदादि गमनादि कहे।'

(घ) 'विदुष ऐसा अर्थ करते हैं कि आदि-प्रकृति बिना पदके चलती है, बुद्धि बिना कानके सुनती है, त्रिगुणात्मक अहङ्कार बिना हाथके अनेक कर्म करता है। चराचरमात्रकी रचना इस अहङ्कारसे ही होती है। सात्त्विक अहङ्कारसे इन्द्रियोंके देवताओं, राजससे इन्द्रियों और तामससे इन्द्रियोंके विषयकी रचना होती है। आकाश बिना मुखके भक्षण करता है अर्थात् सब उसीमें समा जाते हैं। जल बिना जिह्वाके सब रसोंको धारण करता है। पुनः, व्योम बिना वाणीहीके वक्ता है क्योंकि उसमें सहज ही शब्द होता रहता है। पुनः योगी है, सदा एकरस स्थिर रहता है। पवन तन बिना सबका स्पर्श करता है, अग्नि नेत्र बिना देखते हैं अर्थात् उसके प्रकाशमें सब देखते हैं, पृथ्वी नाक बिना वास धारण करती है, इति विराट्रूपका यहाँ वर्णन है'।

(ङ) भगवत्-क्रिया-परायण यों अर्थ करते हैं कि 'यहाँ पूजित श्रीस्वरूप वर्णित है। भगवत् प्रतिमामें नरवत् पैर नहीं हैं, पर वह चलती है, जैसे साक्षी गोपाल चले आये—(भक्तमाल भक्तिरसबोधिनी-टीका क० २३८—२४१); कान बिना सुनती है, जैसे जगन्नाथजीमें प्रार्थनाका उत्तर मिलता है इत्यादि। इसी प्रकार श्रीबालाजीने बिना हाथके ही अर्थीका मनोरथ पूर्ण किया, श्रीजनार्दनभगवान्‌के तस्मई (खीर) भोगमें सर्प गिर गया जो अधिकारियोंने अभ्यागतोंको खिला दिया था। भगवान्‌के नरवत् नेत्र नहीं पर उन्होंने देखा, आजतक भगवान्‌का रोष प्रसिद्ध है।' करके बिना ही सात सौ कोसपर अङ्गद भक्तकी अर्पण की हुई जलमें डाली हुई मणिको जगन्नाथजीने ग्रहणकर हृदयपर धारण किया। विष्णुपुर बेगूसराय जिला मुँगेरमें श्रीरामदासजी श्यामनायिकाजीके यहाँ भगवान् थालका सब भोग पा (खा) गये, क्योंकि ब्राह्मण साधुओंने हँसीमें कहा था कि हम ठाकुरका जूठा न खायेंगे। धनाकी रोटी खायी, नामदेवजीके हाथका दूध पिया इत्यादि। बिना नरवत् मुखके रसोंका आनन्द लिया।

(च) श्रीरामानुरागी ऐसा भी कहते हैं कि 'यहाँ प्रेमाभक्ति वर्णित है। जब उरमें प्रभुका साक्षात्कार होता है तब ऐसा प्रेम-प्रवाह उमगता है कि वह बिना पदके चलने लगता है, उसे यह सुध नहीं रहती कि मेरे पैर कहाँ पड़ रहे हैं एवं सर्वाङ्गकी सुध भूल जाती है। यथा नारदसूत्रमें '**अथातो भक्तिं व्याख्यास्यामः।**

**सा कस्मै परमप्रेमरूपा। अमृतस्वरूपा च। यल्लब्ध्वा पुमान्सिद्धो भवत्यमृतो भवति तृप्तो भवति। यत्प्राप्य न किञ्चिद्वाञ्छति न शोचति न द्वेष्टि न रमते नोत्साही भवति॥'** (बैजनाथजी)

(छ) विषयी विमुख जीव ऐसा अर्थ करते हैं कि 'यहाँ विषयानन्द वर्णित है कि बिना पदके चले स्वपद (अपने पैरसे) न चले किंतु वाहनपर चले; बिना कानके सुने अर्थात् अर्जी आदि बाँचकर सुने, कर बिना अर्थात् हुक्ममात्रसे दण्ड और रक्षा आदि करे; मुखरहित सर्वाङ्ग रस भोग करे, जैसे कि नेत्रोंसे नृत्यरङ्गरसका, श्रवणसे गानतानरसका, तनमें अरगजादि पुष्पशय्याका, इत्यादि रीतिसे सर्व रसोंका भोग करे। बिना वाणी अर्जीपर हुक्म लिख दे; तन बिना दृष्टिमात्रसे अनेक रास-विलासका मानसी भोग करे; नेत्र बिना नायब, दीवान आदिद्वारा राजकाज देखे; नासिका बिना तन-वसन-मन्दिरादि सुगन्धित रखे। ऐसा सर्वाङ्ग सुख जिसको है वही भगवद्रूप यहाँ वर्णित है।' (११८। ५—८) में 'प्रथम विभावना' अलङ्कार है; क्योंकि बिना कारणके कार्यकी सिद्धि वर्णन की गयी है।

## दो०—जेहि इमि गावहिं बेद बुध जाहि धरहिं मुनि ध्यान।
## सोइ दसरथसुत भगतहित कोसलपति भगवान॥ ११८॥

शब्दार्थ—**इमि**=इस प्रकार। '**कोसल**'=श्रीअयोध्याजी। हिंदी-शब्दसागरमें लिखा है कि 'घाघरा नदीके दोनों तटोंपरका देश। उत्तर तटवालेको उत्तर-कोसल और दक्षिण तटवालेको दक्षिण-कोसल कहते हैं। किसी पुराणमें इस देशके ४ खण्ड और किसीमें ७ खण्ड बतलाये गये हैं। प्राचीन कालमें इस देशकी राजधानी अयोध्या थी।' और 'कोसलखण्ड' नामक ग्रन्थमें कोसल-देशका विवरण इस तरह है कि विन्ध्याचलसे दक्षिणप्रदेशमें एक राजधानी थी जिसका नाम नागपत्तन था (जिसे आजकल नागपुर कहते हैं)। वहाँ कोसल नामक एक प्रतापी राजा हुआ जिससे उस देशका 'कोसल' नाम पड़ा। तबसे वहाँके जो राजा होते थे उनकी एक 'कोसल' संज्ञा भी होती थी, जैसे तिरहुतिके राजाओंकी जनक, काश्मीरके राजाओंकी केकय, पंजाबके राजाओंकी पाञ्चाल होती थी, इत्यादि। उसी वंशमें एक भानुमन्त राजा हुए जिनकी पुत्री श्रीकौशल्याजी थीं। श्रीकौशल्याजीके विवाहके समयतक उनके कोई भाई न था; इसलिये भानुमन्तजीने कोसलदेशका भी उत्तराधिकारी श्रीदशरथजी महाराजको ही बनाया। उसी समयसे अयोध्या उत्तर-कोसल और नागपत्तन दक्षिण-कोसल नामसे विख्यात हुआ। महाभारतमें स्पष्ट उल्लेख है कि कौरव-पाण्डव-युद्धमें कौरवोंकी ओरसे उत्तर-कोसलका राजा बृहद्बल और पाण्डवोंकी ओरसे नग्नजित् दक्षिण-कोसलका राजा गया था।

अर्थ—जिसका वेद और पण्डित इस तरह गान करते हैं और जिसका मुनि लोग ध्यान करते हैं, वही भगवान् भक्तोंके हितार्थ दशरथपुत्र कोसलपति हुए॥ ११८॥

टिप्पणी—१ ऊपर कहा था कि *'आदि अंत कोउ जासु न पावा।'* वहाँके *'कोउ'* से यह स्पष्ट न हुआ कि किसीने आदि-अन्त कहनेका प्रयत्न किया और न कह सका। अतः उसे यहाँ स्पष्ट करते हैं—*'जेहि इमि गावहिं……'* अर्थात् वेद, बुध और मुनि ये सब हार थके, किसीने आदि-अन्त न पाया।

टिप्पणी—२ (क) *'गावहिं बेद बुध……'* वेद और बुध वक्ता हैं, अतः ये गाते हैं। मुनि मननशील हैं, अतः वे ध्यान धरते हैं। (ख) *'सोइ दसरथ सुत……'* इति। यहाँ प्रथम *'दसरथ सुत'* कहा तब *'भगत हित'* और तब *'कोसलपति'* और *'भगवान।'* यह क्रम साभिप्राय है। क्रमका भाव यह है कि श्रीदशरथ महाराजके यहाँ उन्होंने पुत्ररूपसे अवतार लिया तब भक्तोंका हित किया। अर्थात् ताड़का, सुबाहु, खरदूषण, मेघनाद, रावणादि राक्षसोंको मारकर सबको सुखी किया। रावणवधके पश्चात् राज्याभिषेक हुआ तब कोसलपति हुए और राज्य किया। (भक्तोंका हित यह भी है कि प्रभुने ये सब चरित उन्हींके लिये किये, जिसमें इन्हें गा-गाकर भक्त भवपार हो जायँ, यथा—*'किये चरित पावन परम सुनि कलि कलुष नसाइ।'*, *'सोइ जस गाइ भगत भव तरहीं। कृपासिंधु जन हित तनु धरहीं॥'* (१। १२२। १) रावणके वधतक ऐश्वर्य छिपा रहा। राज्य-ग्रहण करनेपर उनका ऐश्वर्य, धर्म, यश, श्री, ज्ञान और वैराग्य प्रकट हुए। अतः कोसलपति कहकर *'भगवान'* कहा। *'भगवान'* कहकर जनाया कि अवतारकालमें भी षडैश्वर्ययुक्त